श्रीः

सत्पथ-दर्पण

★

लेखक—

अजितकुमार शास्त्री

सम्पादक—जैन गजट

मंत्री—श्री भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद

★

प्रकाशक—

निरञ्जनलाल जैन, बम्बई

मंत्री—श्री भा० शान्तिवीर दि० जैन धर्म संरक्षिणीसभा

बाबूलाल जैन जमादार, बड़ौत

सहमंत्री—भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद

★

प्रथम वार १५०००

वीर सं० २४९२
वि० सं० २०२२

मूल्य १५ पैसे

सत्पथ-दर्पण
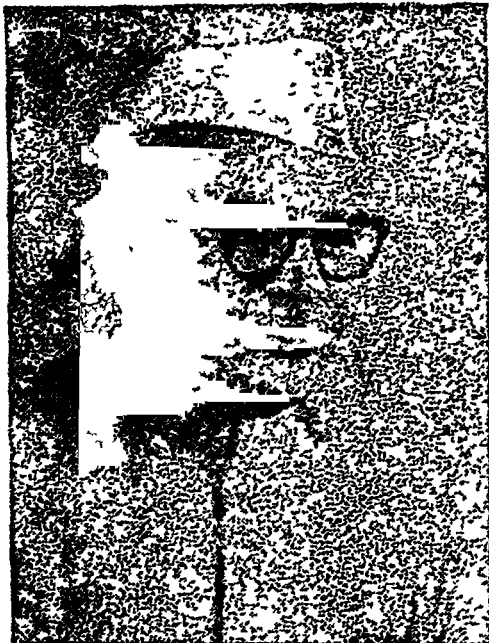
स्वनाम-धन्य, दानवीर, रायसाहब

श्री सेठ चान्दमल जी पांड्या, गौहाटी

[इस पुस्तक का प्रकाशन आपकी ओर से हुआ है ।]

आद्य-निवेदन

इस पुस्तक का श्रम न तो किसी दुराग्रह-पोषण के लिए हुआ है और न जन-साधारण को सन्मार्ग से विचलित करने के लिए किया गया है। लक्ष्य केवल एक रहा है कि जनता आगम-विधान को समझ ले और जीवन में श्रद्धान और विचार के आधार पर आचार भी अपनावे। विना आचार के श्रद्धा और ज्ञान टेसू के सुगन्धि-हीन सुन्दर पुष्प के समान हैं। आत्मा का विकास चारित्र के विना नहीं होता, न आत्मा चारित्र के विना कभी बलवान होता है। हमारे प्रातः स्मरणीय तीर्थंकर तथा ऋषि, महर्षि महान तप त्याग सयम के बल पर ही साधारण आत्मा से महात्मा बने और महात्मा से जगत्पूज्य परमात्मा बने। क्षायिक सम्यग्दृष्टि तथा अवधिज्ञानी तीर्थंकर यदि सच्चारित्र का आचरण न करते, तो आज उनका कोई भी व्यक्ति नाम भी न लेता और न वे रंचमात्र अपना अभ्युदय कर पाते।

तीर्थंकर प्रकृति के उदय से वीतराग तीर्थंकर को अपनी केवलज्ञानी अवस्था में मौन-भंग करके अपनी मधुर वाणी द्वारा उपदेश इसी कारण देना पड़ता है कि जिस तपस्या से उन्होंने परमात्मपद प्राप्त किया है, उस तपोमार्ग का सुखद रहस्य जनता भी समझ ले और वह उसका आचरण करे। विना चारित्र के मनुष्य और पशु में कुछ अन्तर नही रहता।

तो आश्चर्य और दुख होता है जब कि सोनगढ़ साहित्य के ग्रन्थों में जनता को चारित्र पक्ष से भ्रष्ट एवं अनुत्साहित करने के लिए अणुव्रत, महाव्रत, तप, त्याग, सयम अर्थात् चारित्र को, जो कि आत्मा का मल दूर करने वाला है, आत्मा का विकार बताया जाता है। क्या

हमारे श्री १००८ भगवान ऋषभनाथ आदि तीर्थंकरो ने तथा श्री कुन्द-कुन्द आदि ऋषियो ने एव अगणित सद्गृहस्थो ने अणुव्रतो, महाव्रतो का आचरण करके अपने आत्मा मे विकार पैदा किया था ?

दया, अहिंसा, दान, पूजन आदि आचरण को हमारे श्रद्धेय ऋषियो ने "आचरणीय धर्म" बतलाया है। उक्त—

"धम्मो दयाविसुद्धो, करुणाए जीवसहावस्स, हिंसारहिये धम्मे, दाण पूजा मुक्ख सावयधम्मे, झाणज्झयणं मुक्ख जइधम्मे, परस्परोपग्रहो जीवानां"।

आदि सच्चारित्र-पोषक वाक्यो पर परदा डालकर जब सोनगढ़ साहित्य 'दया और अहिंसा को त्याज्य' (छोडने योग्य) कह कर आर्ष वाक्यों की अवहेलना करता है। 'जियो और जीने दो' वाक्य को 'अज्ञानियो की बात' कहता है, तब जैन धर्म का अपमान देखकर दुख होता है। क्या जिनेन्द्र भगवान का, जिनवाणी का तथा आचार्य कुन्द-कुन्द आचार्य का श्रद्धालु जन अपने मुख से ऐसी अश्रद्धा की बातें कह सकता है ?

पथ-प्रदर्शन

जनता प्राय विवेक-शून्य होती है, अत उसको प्रभावशाली नेता जिधर झुकाना चाहे, झुका सकता है। भारतवर्ष मे विश्वहितैषी धर्म-प्रवर्तकों ने प्राणी-मात्र को अभयदान देने वाले अहिंसामय धर्म का प्रचार किया, तो जनता ने उसे हृदय से अपनाया। मास-लोलुप स्वार्थी नेताओ ने पशुयज्ञ का प्रचार किया, तो साधारण जनसमुदाय उस हिंसा मार्ग को धर्म मानकर वैसे पशुयज्ञ करने लगा। विषय-लोलुपी वाममार्गी नेता ने यदि पाच मकार (मैथुन, मास, मद्य, मीन और मुद्रा) के सेवन को मुक्ति का मार्ग बतला कर भैरवी-चक्र के समय अपनी माता, बहिन, पुत्री आदि जिस किसी भी स्त्री की चोली हाथ मे आ जाने पर उसके साथ कामक्रीडा करने का प्रचार किया तो उस मार्ग के अनुयायी भी हजारो लाखो स्त्री पुरुष बन गये। सन्

१९१४ के जर्मन प्रथम महायुद्ध से पहले जार के शासनकाल में रासपुटिन नामक प्रभावशाली धूर्त ने रूस में व्यभिचार को परमेश्वर से मिलने का साधन बतलाया तो रूस के हजारो व्यक्ति उस मार्ग पर चल पडे ।

आज से ढाई हजार वर्ष पहले अहिंसा धर्म का प्रचार करने वाले मगध देश के समकालीन दो क्षत्रिय राजकुमार तपस्वी बनकर कार्यक्षेत्र मे उतरे । एक थे अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर और दूसरे थे महात्मा बुद्ध । भगवान महावीर ने अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरो की साधु-चर्या को अपनाया । नग्न दिगम्बर वेष में उन्होने मौनभाव से बारह वर्ष तक तपस्या की । वे अपने प्रण के अनुसार भोजन-विधि मिलने पर भोजन किया करते थे, किसी का निमंत्रण स्वीकार करके भोजन करने के लिये किसी के घर न जाते थे । अपने शिष्यों की सख्या बढाने का उन्हे लोभ न था, इस कारण उन्होंने अपने किसी भी भक्त को मास-भक्षण करने आदि की किसी तरह की छूट नही दी ।

इसका परिणाम यह हुआ कि ढाई हजार वर्ष के पश्चात् भी आज उनका कोई भी अनुयायी गृहस्थ या साधु मास-भक्षी नहीं बन सका।

उधर महात्मा बुद्ध ने प्रारम्भ मे जैनसाधु का नग्न दिगम्बर वेश अपनाया, केशलोच करना, अपने हाथों मे भोजन लेना आदि जैन साधु का आचरण किया । कुछ दिन पीछे जब वह चर्या उन्हे कठिन प्रतीत हुई तो उन्होने जैनसाधु के उस नग्न को छोड दिया और लाल कपडे पहन कर मध्यम मार्ग अपनाया । तब उनको जो व्यक्ति भोजन के लिये निमन्त्रण देता था उसके घर जाकर भोजन कर आते थे ।

इसके सिवाय कुछ मांस-भक्षण के अभ्यासी मनुष्यो ने शिष्य बनने के लिये महात्मा बुद्ध से अनुरोध किया तो महात्मा बुद्ध ने त्रिकोटि-शुद्ध मांस को भक्ष्य (खाने योग्य) कह दिया । यानी—१-किसी जीव को स्वयं मार कर उसका मांस न खाओ, २—किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा किसी जीव को मरवा कर मांस न लो । ३—अपने

खाने के लिये किसी से मास न मागो । इन तीनो तरह के सिवाय यदि मांस प्राप्त हो जावे तो उसे खाया जा सकता है ।

मास-भक्षण की इतनी सुविधा देने से यद्यपि महात्मा बुद्ध के अनुयायी शिष्य तो बहुत से बन गये परन्तु बौद्धधर्म मे अहिंसा का शुद्ध आचरण न रहा, मास-भक्षण का प्रचार बौद्ध गृहस्थो मे ही नहीं अपितु बौद्धसाधुओ मे भी हो गया जिससे आज बौद्ध धर्मावलम्बी कोई विरला ही व्यक्ति ऐसा मिलेगा जो मास न खाता हो । बौद्ध धर्माचार्य जिस ढग से अपने लिये मास उपलब्ध करते हैं, वह त्रिकोटि शुद्धि की एक घृणित विडम्बना है, उसे लिखना उचित न समझ कर यहा नही लिखते ।

इस तरह साधारण चारित्र में थोडी-सी भी छूट देने, का बहुत भारी अनुचित दूरगामी परिणाम होता है ।

श्री कहान जी स्वामी इस विषय पर गहराई के साथ विचार कर ध्यान दें ।

आज का मनुष्य विषय भोगो का कीड़ा बना हुआ है । वह यथेच्छ व्यभिचार, अण्डा, मास खाने को, मदिरापान करने को अपने लिये अच्छा रुचिकर समझता है । अहिंसा, ब्रह्मचर्य व्रत आदि उसे अरुचिकर प्रतीत होते हैं । यदि उसको अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये कोई धार्मिक आवरण मिल जावे तो उससे उसके धर्म और कर्म दोनो सध जाते हैं ।

"आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है क्योकि आत्मा चेतन अमूर्तिक पदार्थ है, शरीर जड मूर्तिक है । आत्मा की क्रिया आत्मा मे है, जड़ शरीर की क्रिया शरीर में है । शरीर की क्रिया आत्मा मे कुछ विकार नहीं कर सकती । आत्मा न कुछ खाता है, न कुछ पीता है, न कोई शारीरिक क्रिया करता है । खाना पीना, या व्रत उपवास आदि जड-क्रिया है । पर-पदार्थ कुछ विकार या उपकार नही कर सकता ।"

इस तरह का उपदेश (जो कि मूलतः गलत है क्योकि खाना, पीना, विषयभोग आदि आत्मा और शरीर की सम्मिलित क्रिया हैं ।)

महापापी, अण्डा-भक्षी, पराङ्गना एवं वाराङ्गना-प्रिय तथा व्रत संयम से अरुचि रखने वाले व्यक्तियों को बहुत प्रिय लगता है। क्योंकि ऐसे उपदेश के द्वारा उनकी आध्यात्मिकता और शारीरिक—तुष्टि कांक्षा, ये दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं। इस तरह से अध्यात्म-प्रेमियो की जन-संख्या अच्छी बढ़ सकती है, परन्तु भविष्य मे और वर्तमान मे भी इसका दुष्परिणाम जनता को कुपथगामी बन सकता है।

अत. श्री कहान जी स्वामी आत्मा के शुद्ध स्वरूप की रुचि तो जनता मे उत्पन्न करें किन्तु इसके साथ ही हिंसा, व्यभिचार आदि से बचने के लिये अपने अनुयायियों को अहिंसा आदि व्रत पालन करने का तथा मांस मदिरा अण्डा, पराङ्गना, वारांगना-सेवन के त्याग करने का भी कड़ाई के साथ उपदेश अवश्य दें। एव दिगम्बरेतर आम्नाय-अनुसार ऐसे उपदेश देने का परित्याग करें कि **'दया, अहिंसा धर्म नहीं है।'** जबकि आज श्वे० तेरापन्थी आचार्य तुलसी जी इस युग की आवश्यकता का अनुभव करके अहिंसा आदिक अणुव्रतो का समस्त जनता मे प्रचार कर रहे हैं।

श्री कहान जी स्वामी स्वयं एक संस्था रूप हैं, अत: उनकी त्रुटियों का सुधार एक संस्था का सुधार है। अत: उनके हित की दृष्टि से यह सब कुछ लिखा गया है। यदि इस पुस्तक में कहीं पर कोई कटु शब्द लिखा हुआ प्रतीत हो तो उसे छोड़ कर मेरी आन्तरिक सद्भावना का ध्यान रक्खा जावे, ऐसा निवेदन है।

पुस्तक छप जाने पर कुछ विषयों पर और भी कुछ महत्त्वपूर्ण आगम-प्रमाण प्राप्त हुए, उन्हे फिर कभी प्रकाश मे लाया जावेगा। प्रसंग-वश अनेक बातो की पुनरुक्ति हुई है।

वैशाख वदी १० रविवार
वीर सं० २४९२
विक्रम सं० २०२३
दिनांक १० अप्रैल १९६६

विनम्र—

अजितकुमार शास्त्री
देहली।
(चावली-आगरा, मुलतान)

विषय-सूची

❀ ॐ ❀

नमः सिद्धेभ्यः ।

शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ।

सत्पथ-दर्पण

परमागमस्य बीजं, निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

जो परम-आगम का बीज (आधारशिला) है, जन्मान्ध पुरुषों द्वारा हाथी के विभिन्न अङ्गो को छूकर उतने अग को ही हाथी समझ लेने के समान, वस्तु के आशिक ज्ञान को वस्तु के सर्वांश की कल्पना करने वाले एकान्तवादियो का निराकरण करने वाला है तथा समस्त निश्चय व्यवहार आदि नयो के पारस्परिक विरोध को दूर करने वाला है, उस अनेकान्त सिद्धान्त को मैं नमस्कार करता हूँ।

गतवर्ष वीर सं० २४९१ वैशाख सुदी ९ से १३ तक, मई १९६५ मे शान्तिवीर नगर (श्री महावीर जी राजस्थान) अतिशय तीर्थक्षेत्र पर श्रीमान सिद्धान्त वारिधि, सिद्धान्त भूषण बा० रतनचन्द्र जी जैन मुख्तार सहारनपुर की अध्यक्षता मे श्री भा० दिगम्बर जैन शास्त्रि-परिषद का अधिवेशन हुआ था। उस अधिवेशन मे १२ प्रस्ताव पारित हुए थे। जिनमें से १० वाँ प्रस्ताव "सोनगढ़ से प्रकाशित साहित्य दिगम्बर जैन आगम के विरुद्ध है" इस विषय पर श्रीमान

विद्वान् ब्रह्मचारी उल्फतराय जी ने उपस्थित किया था, जिसका समर्थन श्रीमान प० राजेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ मथुरा ने किया था। यह प्रस्ताव १५ हजार सम्यक उपस्थित जनता के समक्ष सर्वसम्मति से पास हुआ था। इसमे सोनगढ के साहित्य की २१ बातो का उल्लेख है।

इस प्रस्ताव के उत्तर मे सोनगढ से प्रकाशित पत्र आत्मधर्म के २ जनवरी १९६६ के अङ्क मे 'सोनगढ साहित्य आगमानुकूल है' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है, इस लेख पर लेखक का नाम नही दिया गया है। इससे यह लेख सम्पादक महोदय का लिखा हुआ प्रतीत होता है। परन्तु इस लेख को इसी शीर्षक द्वारा पृथक् ट्रैक्ट के रूप मे भी प्रकाशित किया गया है और उस पर लेखक का नाम श्री प० वशीधर जी कलकत्ता है। आपने संस्कृत भाषा मे शास्त्री परीक्षा तथा हिन्दी भाषा मे एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की है। सभवत आपको गोम्मटसार आदि उच्च सैद्धांतिक ग्रन्थो तथा तार्किक ग्रथो के अध्ययन का अवसर नही मिला, यह बात ट्रैक्ट "सोनगढ साहित्य आगमानुकूल है" से मिलती है। अस्तु। वह लेख तथा ट्रैक्ट आपका लिखा हुआ मान कर ही उसके उत्तर मे लिखा जा रहा है।

श्री कहान जी स्वामी

मूल सघ के प्रतिष्ठापक, महान आध्यात्मिक आचार्य श्री कुन्दकुंद स्वामी ने समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय नियमसार, रयणसार, दर्शन पाहुड, चारित्र पाहुड, मोक्ष पाहुड, सूत्र पाहुड, बोध पाहुड आदि अनेक ग्रन्थो की रचना की है। इनमे से समयसार ग्रन्थ मे यद्यपि यत्र-तत्र व्यवहार नय अनुसार भी कथन है, परन्तु मुख्यत उसमे निश्चय नय के अनुसार कथन है। इस आध्यात्मिक ग्रन्थ का स्वाध्याय करके अनेक व्यक्तियो ने श्री कुन्दकुन्द आचार्य मे अपनी आस्था रखकर दिगम्बर जैन आम्नाय के आचार-विचार को अपनाया है। मुलतान मे तत्त्ववेत्ता श्री चौथुराम जी सिंघी तथा सेठ भोलाराम जी बगवानी

(ओसवाल) की दिगम्बर आम्नाय मे आस्था समयसार ग्रन्थ का स्वाध्याय करने के अनन्तर ही हुई ।

श्री कहान जी स्वामी [जिनका प्रचलित सुगम नाम श्रीकान जी स्वामी है ।] स्थानकवासी साधु थे, आपने भी सौभाग्य से समयसार का स्वाध्याय किया और श्री कुन्दकुन्द आचार्य के भक्त बनकर आपने भी दिगम्बर-आम्नाय मे प्रवेश किया है । धर्मानुराग-वश हमारे हृदय मे उनका अच्छा आदर सन्मान है ।

जहाँ आपने स्थानकवासी सम्प्रदाय की विचार-धारा का परित्याग करके दिगम्बरीय विचार धारा को अपनाया, वहाँ आपने अभी तक [लगभग २५ वर्ष से] न तो महाव्रती मुनि चारित्र का आचरण किया और न अणुव्रती चारित्र का आचरण किया । यद्यपि आप ८वी प्रतिमा का आचरण सुगमता से कर सकते है परन्तु आपने अभी तक पहली दूसरी तीसरी आदि किसी भी प्रतिमा का आचार ग्रहण नही किया । इसी कारण वे अपने आपको अविरती कहते है ।

इसका कारण यह प्रतीत होता है कि पहले तो आप महाव्रती साधु थे, परन्तु अब श्री कुन्दकुन्द आचार्य के अनुसार दिगम्बर महाव्रती साधु बनना तो आपको संभवतः अशक्य दीखता है और पूर्ववर्ती महाव्रती से श्रावक-आचार ग्रहण करने मे आपको संकोच होता है । इसी कारण आप ऐलक क्षुल्लक या श्रावक व्रत आदि किसी भी पद का आचार ग्रहण नही करते ।

इसके सिवाय ऐसा भी जान पडता है, कि आप कुछ सुखाभ्यासी बन गये हैं, अतः व्रत तप संयम आपको अपने लिये कठिन प्रतीत होता है । अस्तु, कुछ भी हो । आप अनगार और नैष्ठिक सागार आचार मे से कोई भी चरित्र ग्रहण नही करना चाहते, तो न करें, इसमे तो आपकी ही आध्यात्मिक हानि लाभ का प्रश्न है, किन्तु आपका एक धर्म-प्रचारक के नाते यह मुख्य कर्तव्य है कि आप अपने अनुयायी भक्तो

को कम-से-कम श्रावक व्रत ग्रहण करने की प्रेरणा करते रहें, जिससे वर्तमानकाल मे भगवान ऋषभनाथ के समय से प्रचलित हुई और अब तक चली आई श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रमयी जैन संस्कृति का उच्छेद न हो, आपकी अनुयायिनी जनता में वह व्यवहार रत्नत्रयात्मक जैन संस्कृति बनी रहे।

यदि आप ऐसा करना भी उचित नही समझते, तो कम से कम अपने प्रवचनो द्वारा श्री कुन्दकुन्द आचार्य की धर्म प्रचारिणी पद्धति को तो अवश्य अपनावें। उन्होने समयसार की १२वी गाथा मे निश्चय नय को पूर्ण शुद्ध वीतराग हुए शुक्लध्यानी मुनिराजो के लिए उपयोगी [प्रयोजनीय] बतलाया है और उससे नीचे के गुणस्थानवर्ती मुनियो तथा गृहस्थ श्रावको के लिये व्यवहार नय तथा चारित्र आचरणीय बतलाया है। तदनुसार आप भी शुद्धात्मा बनने का लक्ष्य रखकर उसके साधन-भूत चारित्र के ग्रहण करने का प्रचार करें।

किन्तु आप इससे उलटा प्रचार कर रहे हैं। जो चारित्र श्री कुन्द-कुन्द आचार्य के कथनानुसार आत्मा के कषायो व विषयभोगो को मन्द करने के लिये उपयोगी एव ग्राह्य-आचरणीय है उसको आप 'त्याज्य' [छोडने योग्य] बताते हैं, इससे साधारण अनभिज्ञ जनता को चारित्र के विषय में भ्रम होता है।

यदि दया, अहिंसा आदि व्रतात्मक चारित्र आत्मा का अहितकारी एव त्याज्य विकार होता तो क्यो तो श्री कुन्दकुन्द आचार्य उसका अपने चारित्र पाहुड आदि ग्रन्थो में विधान करते और क्यो उसका स्वय आजीवन आचरण करते?

निश्चय नय और व्यवहार नय

वस्तु के समस्त अशो को जानने वाला ज्ञान होता है और वस्तु के एक अश को जानने वाला 'नय' होता है।

नय के मूल दो भेद हैं १. द्रव्यार्थिक नय, २. पर्यायार्थिक नय। द्रव्य [सामान्य] जिसका विषय है, वह द्रव्यार्थिक नय है। पर्याय (विशेष) जिसका विषय है वह यर्यायार्थिक नय है। आध्यात्मिक भाषा मे द्रव्यार्थिक नय को निश्चय नय और पर्यायार्थिक नय को व्यवहार नय कहते हैं।

जैसे आम को रस की अपेक्षा से मीठा कहते हैं किन्तु रंग [रूप] की अपेक्षा से उसे मीठा नही कहते, रग की अपेक्षा से उसे पीला कहते हैं। इसी तरह द्रव्य [सामान्य] जिसका विषय है वह निश्चय नय है और पर्याय जिसका विषय है वह व्यवहार नय है। द्रव्य के बिना पर्याय नही होती और पर्याय के बिना द्रव्य नही होता। आत्मा एक द्रव्य है वह सिद्ध, ससारी, मनुष्य, देव, पशु, नारक पर्याय मे से किसी न किसी एक मे अवश्य होता है और सिद्ध आदि कोई भी पर्याय आत्मा रूप अवश्य होती है। इस तरह द्रव्य और पर्याय अभेद रूप हैं।

यही बात पंचास्तिकाय मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते है—

पज्जयविजुदं दव्वं, दव्वविजुत्तं य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं, भावं समणा परूविंति ॥१२॥

अर्थ—पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता और द्रव्य के बिना पर्याय नही होती। द्रव्य और पर्याय का परस्पर अनन्यभूत [अभेद] भाव है। ऐसा श्रमण [भगवान महावीर] कहते हैं।

इसी तरह बिना गुण के कोई द्रव्य नही होता और बिना द्रव्य के गुण नही होता। ज्ञान आदि गुण के बिना आत्मा कुछ नही है, और आत्मा के बिना ज्ञान गुण भी कुछ नही है। यानी—गुण और द्रव्य अभेद रूप है।

पचास्तिकाय मे बताया है—

दव्वेण विणा ण गुणा, गुणेहिं दव्व विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो, दव्वगुणाण हवदि तम्हा ॥१३॥

अर्थ—द्रव्य के विना गुण नही होते तथा गुणो के विना द्रव्य नही होता है, इस कारण द्रव्य और गुणो का परस्पर अव्यतिरिक्त [अभेद] भाव है ।

उसी प्रकार गुण की कोई न कोई पर्याय [दशा] होती है, इसलिये विना पर्याय के गुण नही होता और गुण के विना कोई पर्याय नही होती । ज्ञान गुण है तो उसकी मति, श्रुत, अवधि मनपर्यय और केवल इनमे से कोई न कोई पर्याय अवश्य होती है ।

इस तरह द्रव्य, गुण, पर्याय ये तीनो अभेदात्मक एक रूप भी हैं क्योकि एक दूसरे के विना क्षणभर भी नही ठहर सकते । और भेदात्मक भी है क्योकि तीनो के लक्षण [तीनो को भिन्न-भिन्न समझने के चिह्न] अलग-अलग हैं । जो द्रव्य है सो पर्याय नही है, जो पर्याय है सो द्रव्य नही है । जो गुण है सो न द्रव्य है, न पर्याय है । जो द्रव्य है सो गुण नही हैं ।

इसी तरह इनके ग्रहण करने वाले नय भी पृथक् पृथक् है किन्तु वे परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं ।

कर्म विनिर्मुक्त शुद्ध आत्म-द्रव्य, शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का अपरनाम शुद्ध निश्चय नय का विषय है और कर्म-उपाधि सहित ससारी आत्मा अशुद्ध द्रव्यार्थिक या अशुद्ध निश्चय नय का विषय है । इसी प्रकार कर्म-मुक्त शुद्ध आत्म-पर्याय [सिद्ध पर्याय] शुद्ध पर्यायार्थिक या शुद्ध व्यवहार नय का विषय है और आत्मा की कर्म-सहित ससारी पर्याय अशुद्ध पर्यायार्थिक अपरनाम अशुद्ध व्यवहारनय का विषय है ।

यह उल्लेख स्पष्ट रूप से आलाप पद्धति मे बतलाया गया है । वहाँ द्रव्यार्थिक (निश्चय नय के १० भेदो मे शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक ये दो भेद भी है और पर्यायार्थिक [व्यवहार नय] के भी शुद्ध

और अशुद्ध दो भेद है तथा दोनो [द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक] नयो के दृष्टान्तो मे सिद्ध और ससारी को, द्रव्य और पर्याय के रूप मे उपस्थित किया है। समयसार की गाथा—

ववहारोऽभूयत्थो, भूयत्थो दसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु, सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

की व्याख्या करते हुए श्री जयसेन आचार्य ने लिखा है—

द्वितीयव्याख्यानेन पुनः ववहारो अभूदत्थो व्यवहारोऽभूतार्थो भूदत्थो भूतार्थश्च देसिदो देशितः कथितः। न केवलं व्यवहारो देशितः सुद्धिणओ शुद्धनिश्चयनयोपि। दु शब्दादय शुद्धनिश्चयनयोपि। इति व्याख्यानेन भूताभूतार्थव्यवहारोपि द्विधा, शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोपि द्विधा, इति नयचतुष्टयं।"

यानी—दूसरी व्याख्यासे व्यवहार नय भूतार्थ भी है और अभूतार्थ भी है। केवल व्यवहार नय ही भूतार्थ अभूतार्थ रूप दो तरह का नही है किन्तु 'तु' शब्द से यह निश्चय नय भी भूतार्थ, अभूतार्थ रूप दो प्रकार का है। इसी तरह १-भूतार्थ (शुद्ध) निश्चय नय, २-अभूतार्थ [अशुद्ध] निश्चयनय, ३-भूतार्थ [शुद्ध] व्यवहार नय और ४-अभूतार्थ [अशुद्ध] व्यवहार नय इस तरह चार नय है।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने भी द्रव्यसग्रह मे निश्चय नय के शुद्ध, अशुद्ध दो भेद बतलाये है, वे जीव के कर्ता अधिकार मे लिखते हैं—

पुग्गलकम्मादीण, कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥

यानी-आत्मा व्यवहार नय से ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय आदि पुद्गल कर्मों का तथा च मकान वस्त्र आदि पदार्थों का कर्ता (करने वाला] है और निश्चय नय से अपने राग द्वेष आदि चैतन्य

कर्मों [भावकर्मों] का करने वाला है तथा शुद्ध निश्चय नय से अपने शुद्ध भावो का करने वाला है।

इन आर्ष ग्रथो की साक्षी से यह बात सिद्ध होती है कि निश्चयनय शुद्ध और अशुद्ध यानी भूतार्थ और अभूतार्थ द्रव्य को ग्रहण करता है तथा व्यवहारनय भी भूतार्थ, अभूतार्थ (शुद्ध और अशुद्ध) पर्याय को ग्रहण करता है।

शुद्ध-अशुद्ध द्रव्य-पर्याय

श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आत्मा के गुण हैं। यदि ये गुण शुद्ध होते हैं यानी—क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, यथाख्यात चारित्र रूप होते हैं, द्रव्यकर्म—दर्शन मोहनीय, ज्ञानावरण और चारित्र मोहनीय कर्म से अस्पृष्ट, अप्रभावित होते हैं, तो आत्मद्रव्य शुद्ध होता है। उस शुद्ध आत्मद्रव्य को ग्रहण करने वाला नय शुद्ध द्रव्यार्थिक या भूतार्थ शुद्ध निश्चयनय होता है।

यदि ज्ञानावरण कर्म के उदय से तथा दशन मोहनीय रूप मिथ्यात्व के सम्पर्क से आत्मा का ज्ञान गुण अज्ञान [अल्पज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान] रूप होता है, दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का श्रद्धा गुण मिथ्यात्व रूप होता है, आत्मा का चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से राग, द्वेप, क्रोध, लोभ आदि भावकर्म रूप होता है, तो उन अशुद्ध गुणमय होने के कारण आत्मा अशुद्ध होता है। उस अशुद्ध आत्मद्रव्य को विपय करने वाला [जानने वाला] नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक या अभूतार्थ अशुद्ध निश्चयनय होता है।

कर्म नोकर्म-रहित सिद्ध पर्याय आत्मा की शुद्ध पर्याय है। उस शुद्ध आत्म-पर्याय को ग्रहण करने वाला शुद्ध पर्यायार्थिक यानी—शुद्ध व्यवहारनय है। सिद्धो का तथा अन्य शुद्ध द्रव्यो का उत्पाद व्यय इसी भूतार्थ [शुद्ध] पर्यायार्थिक अपरनाम शुद्ध व्यवहार नय का विषय है।

ज्ञानावरण, मोहनीय आदि कर्मों के उदय से आत्मा की अशुद्ध पर्याय होती है, नरक, पशु, मनुष्य, देव आयु तथा नरकगति, पशुगति, देवगति, मनुष्य गति कर्मों के उदय से ससारी आत्मा की नरक, पशु, मनुष्य और देव पर्याय आत्मा की अशुद्ध पर्याय है। उस अशुद्ध आत्म-पर्याय को विषय करने वाला नय अशुद्ध पर्यायार्थिक या अशुद्ध अथवा अभूतार्थ व्यवहार नय है।

इस तरह समयसार के टीकाकार श्री जयसेनाचार्य, आलापपद्धति के निर्माता श्री देवसेनाचार्य, द्रव्यसग्रह के रचयिता श्री सिद्धान्तिदेव नेमिचन्द्र आचार्य का अभिप्राय है।

जीवद्रव्य और पुद्‌गल द्रव्य जब अशुद्ध होते हैं तो उन अशुद्ध द्रव्यों का ग्राहक निश्चयनय शुद्ध न होकर अशुद्ध यानी अभूतार्थ निश्चयनय है। संसारी आत्म-द्रव्य कोई कल्पित द्रव्य नही है। अभव्य आत्मा तथा दूरातिदूर भव्य आत्मा अनादिकाल से अनन्त काल तक अशुद्ध रहा, अशुद्ध है और अशुद्ध, ही रहेगा, ऐसे अमिट अपरिवर्तनीय अशुद्ध आत्मा का ग्राहक नय अभूतार्थ निश्चयनय ही हो सकता है। उसका ग्राहक न तो व्यवहारनय है क्योकि व्यवहारनय पर्याय को ग्रहण करता है, पर्यायार्थिक का ही आध्यात्मिक नाम व्यवहार है। शुद्ध निश्चयनय भी नित्य-भाव कर्ममय आत्म-द्रव्य का ग्राहक नही बनता। अत: अभूतार्थ (अशुद्ध) निश्चयनय ही अभव्य या दूरातिदूर भव्य को ग्रहण करता है।

इसी तरह आत्मा की नोकर्म द्रव्यकर्म भावकर्म-रहित तथा प्रतिक्षणवर्ती उत्पाद व्यय-सहित मुक्त दशा या सिद्ध पर्याय भूतार्थ व्यवहार नय का विपय है। अन्य धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन शुद्ध द्रव्यों की उत्पाद व्यय रूप पर्याय भी शुद्ध यानी-भूतार्थ व्यवहार नय का विषय है। अनित्यात्मक पर्याय होने से तो निश्चयनय [द्रव्यार्थिक नय] उसे विषय नही कर सकता और शुद्ध पर्याय होने के कारण अशुद्ध व्यवहार नय उसे ग्रहण नही कर सकता।

सोनगढ़ का गलत सिद्धान्त

अत सोनगढ के साहित्य मे व्यवहार नय को जो सर्वथा अभूतार्थ (असत्यार्थ) मान कर त्याज्य बतलाया जाता है, वह गलत है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ द्रव्यदृष्टि से निश्चय नयानुसार जितना सत्य है, या भूतार्थ है, उतना ही सत्यार्थ या भूतार्थ पर्याय दृष्टि से व्यवहार नय अनुसार है। तथा च अशुद्ध पर्याय-ग्राही व्यवहार नग जिस तरह अभूतार्थ है, उसी तरह अशुद्ध द्रव्य-ग्राही निश्चय नय भी अभूतार्थ या असत्यार्थ होता है। किन्तु वह झूठ नही है। समयसार गाथा १४ की टीका मे व्यवहारनय को श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने सत्यार्थ कहा है।

समयसार गाथा ४६ की टीका मे श्री अमृतचन्द्र ने कहा है कि यदि व्यवहारनय को न माना जाये तो हिंसा, बन्ध, मोक्ष का अभाव हो जायगा। निश्चय नय विषयक एकान्त भूतार्थ (सत्यार्थ) रूप मान्यता तथा व्यवहार नय विषयक एकान्त रूप से अभूतार्थ [असत्यार्थ] झूठ रूप मान्यता सोनगढ सिद्धान्त की मूल मे बज्रभूल है। इस एक मूल गलती के कारण सोनगढ का फलित [कलित] सभी सिद्धान्त गलत बन गया है। क्योंकि जिस तरह व्यवहार नयका एकान्तवाद मिथ्यात्व है उसी तरह निश्चय नय का एकान्त पक्ष भी एकान्त मिथ्यात्व है।

आलापपद्धति ग्रन्थ के अत मे अध्यात्म नय का विवेचन निम्न प्रकार किया है—
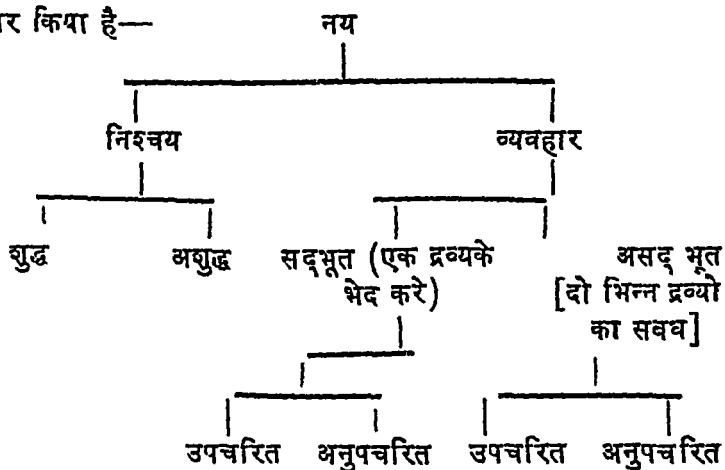
मोक्ष मार्ग

आत्मा मे ससार-भ्रमण के कारणभूत जो मिथ्यात्व, अज्ञान और राग द्वेष आदि भावकर्म है वे दर्शन मोहनीय, ज्ञानावरण तथा चारित्र मोहनीय कर्म के निमित्त से होते है । श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समय-सार मे इस पर यो प्रकाश डाला है--

जीवपरिणामहेदु, कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्त, तहेव जीवोवि परिणमइ ।८०।।
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे, जीवो कम्म तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु, परिणाम जाण दोण्हंपि ।।८१।।

अर्थ—जीव के राग द्वेष आदि परिणामो के कारण कार्माण पुद्गल ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मरूप परिणमन करते है और उसी तरह पौद्गलिक द्रव्यकर्म ज्ञानावरण आदि के उदय के निमित्त से जीव भी अज्ञान असयम आदि रूप परिणमन करता है। जीव पौद्गलिक कर्म मे कुछ नही करता और न पौद्गलिक कर्म आत्मगुणो मे कुछ करता है, किन्तु परस्पर आत्मा और पौद्गलिक ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म के निमित्त से आत्मा और द्रव्यकर्मो का परिणमन होता है ।

आत्मा जब तक अपने राग द्वेष आदि भाव-कर्मो से तथा मोहनीय आदि द्रव्य कर्मों से एव नोकर्म औदारिक आदि शरीर से मुक्त नही होता, तब तक वह अजर अमर, पूर्ण-शुद्ध-स्वतत्र नही हो पाता । तीनो तरह के कर्मो (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म) से मुक्त होने का उपाय सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं। इसी कारण तत्वार्थ-सूत्रकार श्री उमास्वाति आचार्य ने तत्वार्थसूत्र का आरम्भ करते हुए लिखा है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

यानी—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र मोक्षमार्ग [कर्मो से

मुक्ति का साधन] है। यह रत्नत्रय [सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र] दो प्रकार का है–१ व्यवहार, २ निश्चय। इसी कारण मोक्षमार्ग दो प्रकार का (निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग) ग्रन्थो में बतलाया गया है।

पूर्ण सम्यक्त्व, पूर्ण ज्ञान (केवल ज्ञान) और पूर्ण चारित्र (यथा-ख्यात चरित्र) या पूर्ण रत्नत्रय-मय आत्मा निश्चय मोक्षमार्ग है और उस निश्चय मोक्षमार्ग का साधन-भूत तरतमरूप से हीन अधिक मात्रा रूप चौथे, पांचवें, छठे आदि गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक का रत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग है। अत. निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है। व्यवहार मोक्षमार्ग ही परिपक्व एव पूर्ण होकर निश्चय रत्नत्रय रूप निश्चय मोक्षमार्ग हो जाता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय मे लिखा है—

धम्मादी सद्दहण, सम्मत्तं णाणमगपुव्वगद।
चेट्ठा तवम्हि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६०॥

अर्थ—धर्म-अधर्म, आत्मा आदि द्रव्यो का यथार्थ श्रद्धान सम्य-ग्दर्शन है। अग, पूर्व आदि का बोध सम्यग्ज्ञान है और बारह प्रकार के तपो को करना सम्यक्चारित्र है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने इस गाथा की व्याख्या करते हुए अन्त मे लिखा है—

"निश्चयमोक्षमार्गस्य साधनभावमापद्यते।"

यानी—यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधन है।

णिच्छयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्ण ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६१॥

अर्थ—निश्चयनय से उन तीनो (पूर्ण सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र)

गुणमय जो आत्मा है जो कि अन्य न कुछ करता है, न छोडता है, वह आत्मा निश्चय मोक्षमार्ग है।

इस गाथा की टीका के अन्त मे श्री अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधन - भावो नितरामुपपन्न इति।"

यानी—इस लिये निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग मे साध्य, साधन भाव अच्छी तरह से घटित होता है।

इसी प्रकार नियमसार तथा अन्य अनेक ग्रन्थों मे भी मोक्षमार्ग दो प्रकार का बताया है।

श्री अमृतचन्द्र ने तत्वार्थसार में लिखा है—

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२॥

—उपसहार

अर्थ—मोक्षमार्ग दो प्रकार का है—१—निश्चय, और २—व्यवहार है। उनमे से पहला (निश्चय मोक्षमार्ग) साध्य है और दूसरा (व्यवहार मोक्षमार्ग) उस निश्चय मोक्षमार्ग का साधन है।

इसमें सोनगढ़ की विपरीत मान्यता

साधन द्वारा साध्य की सिद्धि होती है। इस नियम के अनुसार साधन पहले होता है, पीछे उस साधन द्वारा साध्य की सिद्धि होती है। इसीलिए व्यवहार धर्म या व्यवहार रत्नत्रय (अपूर्ण रत्नत्रय) पहले होता है। उस व्यवहार रत्नत्रय द्वारा ही निश्चयधर्म या निश्चयरत्नत्रय प्रकट होता है। वह व्यवहार रत्नत्रय, जो कि सराग सम्यक्त्व, सराग ज्ञान सराग चारित्ररूप होता है, जब तेरहवें गुणस्थान मे पूर्ण वीतराग सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र रूप हो जाता है, तब उसका नाम निश्चय रत्नत्रय होता है। जैसे सुवर्ण-पाषाण १६ अग्नि-तापो से शुद्ध सुवर्ण बन जाता है।

इस तरह चौथे, पांचवे, छठे, सातवें आदि गुणस्थानो का व्यवहार रत्नत्रय बढना हुआ, उत्तरोत्तर शुद्ध होता हुआ तेरहवें गुणस्थान मे पूर्ण और शुद्ध हो जाता है, अत. व्यवहार रत्नत्रय ही निश्चय रत्नत्रय का गुणस्थान क्रम से परम्परा तथा साक्षात् उपादान कारण है।

अत एव व्यवहार रत्नत्रय उस निश्चय रत्नत्रय का कारण है और पूर्ववर्ती है।

इस विषय मे सोनगढ साहित्य की मान्यता उल्टी है, जो कि पचास्तिकाय, तत्त्वार्थसार आदि आगम के प्रतिकूल है। सोनगढ साहित्य की मान्यता है कि "व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार धर्म अथवा व्यवहार मोक्षमार्ग उस निश्चय रत्नत्रय या निश्चय धर्म अथवा निश्चय मोक्षमार्ग का कारण नही है।"

श्री कहान जी स्वामी का यह भी कहना है—जैसे कि सोनगढ से प्रकाशित छहढाला की टीका (ढाल २ पद्य ३) आदि मे यह अभिप्राय लिखा है कि—

"निश्चय धर्म पहले होता है और उसके पश्चात् व्यवहार धर्म होता है।"

यह बात ऐसी उलटी है, जैसे कोई यह कहे कि 'पुत्र के बाद माता-पिता का जन्म होता है। रोटी पहले बन जाती है और उसका आटा पीछे बनता है।'

यदि निश्चय धर्म पहले हो जावे तो फिर व्यवहार धर्म की आवश्यकता क्या रहेगी ?

कोई भी ग्रन्थकार आचार्य इस बात का प्रतिपादन नही करता। समस्त आर्ष आगमो के प्रतिकूल, तथा साध्य-साधन या कार्य-कारण नियम के प्रतिकूल यह सोनगढ साहित्य की वार्ता है।

सोनगढ वाले व्यवहार रत्नत्रय को मोक्ष का साधन नही मानते

किन्तु पचास्तिकाय की गाथा १८२ की टीका मे श्री अमृतचद्र आचार्य ने लिखा है—

व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधन-भावमवलम्ब्यानादि-भेद-वासितबुद्धयः सुखेनैवतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः।

इसी कारण

श्री कुन्दकुन्द आचार्य तथा अमृतचद्र मूरि आदि ग्रन्थकारो के कथन-अनुसार आत्मा का निश्चय या पूण शुद्ध धर्म 'साध्य' है और उस निश्चय धर्म को प्राप्त करने का साधन चौथे असयत गुणस्थान से लेकर दशवें या बारहवें गुणस्थान तक का सराग तथा वीतराग अपूण व्यवहार रत्नत्रय है या व्यवहार धर्म है। सातवें से दशवे गुणस्थान तक अव्यक्त राग और चौथे से छठे गुणस्थान तक व्यक्त राग होता है अतः दशवें गुणस्थान तक निश्चय या पूर्ण-रत्नत्रय नही होता।]

इस लिये जो भव्य मुक्ति का इच्छुक है, उसे मिथ्यात्व का परित्याग करना चाहिये और सम्यक्त्व का ग्रहण एव पाँच पापो का त्याग करके, इन्द्रिय-विषय, कषायो को मन्द करके अणुव्रती चारित्र तथा महाव्रती चारित्र ग्रहण करना चाहिये, जैसा कि कुन्दकुन्द आचार्य ने चारित्रपाहुड मे विधान किया है, तथा नियमसार मे बतलाया है, श्री अमृतचद्र सूरि ने तत्वार्थसार और पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय मे एव अन्य श्री समन्तभद्र आदि आचार्यो ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि ग्रन्थो मे बतलाया है।

महाव्रत ग्रहण करके धर्मध्यान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। धर्मध्यान ही शुक्लध्यान बन जाता है। उस निर्विकल्प समाधि की अवस्था मे महाव्रत, बोलने, विहार करने, ग्रन्थ निर्माण करने आदि प्रवृत्ति रूप मे नही होते, क्योकि उस दशा मे प्रवृत्ति छूट जाती है।

इसी बात को पूज्यपाद आचार्य ने समाधिशतक मे यो लिखा है—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी, व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥
अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य, परमं पदमात्मनः ॥८४॥

अर्थ—व्रत न पालने से हिंसादिक पाप होते हैं और अहिंसादिक व्रतो द्वारा पुण्य होता है। पुण्य और पाप कर्मों के नष्ट हो जाने से आत्मा की ससार से मोक्ष हो जाती है। इस कारण मोक्ष-इच्छुक (शुक्लध्यान के समय) व्रतो के विकल्प को भी छोड़े।

पापो का त्याग करके व्रतो को ग्रहण करना चाहिये और आत्मा परम पद (निर्विकल्प समाधि) मे व्रतो के विकल्प भी त्यागे।

इस तरह इन्द्रियों की विषय-वासना मिटाने के लिये, काम विकार स्वादु-लोलुपता दूर करने के लिये एव कषायो को मद करने के लिए अणुव्रत, महाव्रत रूप चारित्र ग्रहण करने का विधान आचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे किया है तथा श्री कुन्दकुन्द आचार्य आदि सभी ऋषि मुनियो ने उस चारित्र का आचरण भी किया है। निश्चय धर्म पाने के लिए भगवान् ऋषभनाथ ने एक हजार वर्ष तक महाव्रत चारित्र का आचरण किया।

तब श्री कहान जी स्वामी अणुव्रतों और महाव्रतो को आत्मा का विकार बतलाते हैं और व्यवहार चारित्र को त्याज्य (छोडने योग्य) कहते है!

पहली वार्ता

हिंसा-अहिंसा

श्री महावीर जी क्षेत्र पर हुए दि० जैन शास्त्रि परिषद के अधिवेशन मे जो १०वां प्रस्ताव सोनगढ़ साहित्य के विरोध मे सर्वसम्मति से पारित हुआ था उसमे सबसे पहली बात सोनगढ़ साहित्य के हिंसा के गलत विवेचन से सबधित है। प्रस्ताव मे सोनगढ़ से प्रकाशित आत्मधर्म पत्र के वर्ष १ अक ४ पृष्ठ २१ तथा वर्ष ४ अंक २ पृष्ठ १६ पर प्रकाशित लेख के अन्तर्गत प्रगट किये गये अभिप्राय का साराश दिया था, जैसा कि प्रस्ताव मे सक्षेप मे दिया जाता है।

श्री प० वशीधर जी कलकत्ता मे अपने ट्रैक्ट मे पृष्ठ ५ से ८ तक उसके समाधान करने का यत्न किया है।

आपने आत्मधर्म मे प्रकाशित दोनों अंकों के लेखों का कुछ भाग इस समाधान मे उद्धृत किया है। उस उद्धरण मे हिंसा के विवेचन पर निम्नलिखित वाक्य लिखे है—

"लोग जड़ शरीर और चैतन्य आत्मा को पृथक् कर देने को हिंसा कहते है। किन्तु हिंसा की यह व्याख्या सत्य नहीं है। क्योंकि शरीर और आत्मा तो सदा से भिन्न ही है। उन्हे पृथक् करने की बात औपचारिक है।"

"निश्चय में हिंसा का विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि निश्चय से कोई जीव मरता नहीं है। जीव और शरीर भिन्न-भिन्न ही हैं और जड़ को मारने मे हिंसा नहीं होती।"

सोनगढ़ साहित्य का यह कथन जैन आगम के अनेकान्त सिद्धान्त के

विरुद्ध है क्योंकि जैन आगम मे शरीर व आत्मा को कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न माना है। इसीलिए चरणानुयोग-सम्बन्धी जितने भी ग्रन्थ है, उन सभी ग्रन्थो मे किसी भी जीव को लाठी, तलवार, पत्थर आदि किसी भी अस्त्र-शस्त्र से मार देने को, यानी उस शरीर से उस आत्मा को अलग कर देने को हिंसा कहा गया है।

इस विषय पर श्री अमितिगति आचार्य अपने श्रावकाचार ग्रन्थ मे लिखते है—

आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गत-विवेकाः।
कायवधे हन्त कथ, तेषां सजायते हिंसा ॥६-२१।

अर्थ—जो अविवेकी मनुष्य आत्मा और शरीर को सर्वथा पृथक् कहते है, शोक है कि शरीर के वध कर देने मे (मार डालने मे) उनके हिंसा कैसे होती है ? यानी—आत्मा जब शरीर से सर्वथा भिन्न है तो किसी जीवका शरीर-घात कर देने पर हिंसा नही होनी चाहिये।

भिन्नाभिन्नस्य पुनः पीडा सजायतेतरां घोरा।
देहवियोगे यस्मात्तस्मादनिवारिता हिंसा ॥६-२२॥

अर्थ—द्रव्यदृष्टि से शरीर और आत्मा कथचित् भिन्न है और पर्यायदृष्टि से कथचित् शरीर और आत्मा अभिन्न है, ऐसे (भिन्न-अभिन्न) आत्मा के चूकि शरीर के पृथक् होने पर (शरीरघात होने पर) अत्यन्त घोर पीडा होती है, इसलिये किसी जीव के शरीर का घात करने पर हिंसा अवश्य होती है।

श्री अमितिगति आचार्य के इन आर्ष वाक्यो से सोनगढ साहित्य की पूर्वोक्त बात खडित हो जाती है।

प्रत्येक ससारी जीव वह चाहे छोटा-सा कीडा हो अथवा बडा पशु पक्षी, जलचर जीव या मनुष्य हो, सदा शरीरसहित होता है, विना शरीर के कोई भी जीव कभी नही होता। विग्रह गति मे यद्यपि जीव

एक, दो, तीन समय के लिये औदारिक आदि शरीर-रहित होते है, परन्तु इस समय भी उन जीवों के सूक्ष्म तैजस कार्माण शरीर अवश्य होते है, वे दोनो शरीर तो मुक्त होने तक प्रत्येक जीव के बने ही रहते है। तथा उन अदृश्य शरीरो का न कोई घात करता है और न कर सकता है, हिंसा का व्यवहार उन शरीरो की अपेक्षा बताया भी नही गया। वैक्रियिक, आहारक शरीरो की हिंसा भी मनुष्यों द्वारा नही की जा सकती। अतः धर्मग्रन्थो में जिस हिंसा, अहिंसा का विधान है वह मुख्यतः औदारिक यानी—जलचर, थलचर, नभचर, पशु-पक्षियो, कीड़े-मकोडे आदि तथा मनुष्यो के शरीर के घात-आघात से ही सबधित है।

ससारी जीव जो अपने योग्य ५ इन्द्रिय, ३ बल, आयु और श्वास उच्छ्वास इन १० प्राणो द्वारा जीवित रहता है, वे द्रव्यप्राण शरीर-सम्बन्धी ही है। प्रत्येक मनुष्य तिर्यंच, वह चाहे टट्टी का कीड़ा ही क्यो न हो, जीना चाहता है, मरना नही चाहता, जीने में प्रसन्न रहता है, मरने से भयभीत रहता है। ऐसी दशा मे किसी जीव को चोट पहुँचाकर क्षत विक्षत (घायल) करना अथवा उसका घात करना (मार डालना) उस जीव को दुख देने वाली हिंसा नही तो और क्या है।

जब कोई भी जीव अपने जीवन के आधारभूत अपने शरीर से अलग होना नही चाहता, तब उस जीव को मार कर उस शरीर से अलग कर देने को भी हिंसा न माना जाय, इस बात को सोनगढ़ साहित्य के सिवाय अन्य कोई जैन धर्मग्रन्थ नही कह सकता।

मुनियो को अहिंसा व्रत पालने का विधान करते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार मे लिखा है—

कुलजोणिजीवमग्गण ठाणाइसु जाणऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्तण परिणामो होइ पढमवदं ॥५६॥

अर्थ—जीवों के कुल, योनि, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि जानकर उनके आरम्भ से निवृत्तिरूप परिणाम वह पहला अहिंसा व्रत है।

इसकी टीका मे स्वयम्भूस्तोत्र का 'अहिंसा भूताना जगति विदित ब्रह्म परम' आदि श्लोक तथा निम्नलिखित श्लोक लिखा गया है—

त्रसहतिपरिणामध्वान्तविध्वंसहेतुः,
सकलभुवनजीवग्रामसौख्यप्रदो यः।
स जयति जिनधर्मः स्थावरैकेन्द्रियाणां,
विविधविधविदूरश्चारुशर्माब्धिपूरः ॥

अर्थ—त्रस (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पचेन्द्रिय) जीवो के घात के परिणामरूपी अन्धकार के नाश का जो कारण है तथा समस्त जगत के जीवो को सुखदायी है एव स्थावर यानी एकेन्द्रिय जीवो के घात करने मे जो दूर है और सुखसागर से भरपूर है, वह जैनधर्म जयवन्त है।

चारित्र पाहुड मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं—

थूले तसकायवहे ....परिहारो ॥२४॥
अर्थ—त्रसकायिक जीवो की हिंसा का त्याग अहिंसा अणुव्रत है।

हिंसाविरइ अहिंसा.. ... .

अर्थ—हिंसा से विरक्त होना अहिंसा महाव्रत है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थसिद्धि-उपाय मे लिखते है—

यत्खलु कषाययोगात्, प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

अर्थ—कषायभाव से जो द्रव्य-प्राणो (इन्द्रिय, शरीर, आयु, श्वास का) तथा भाव प्राणो (सुख शान्ति) का घात करना सो हिंसा है।

तत्वार्थसार मे श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं—

द्रव्यभावस्वभावानां प्राणानां व्यपरोपणम्।
प्रमत्तयोगतो यत्स्यात् सा हिंसा सप्रकीर्तिता ॥४-७४॥

अर्थ—प्रमाद से द्रव्य प्राणो तथा भावप्राणो का घात करना हिसा है।

श्री सोमदेव सूरि यशस्तिलक चम्पू के अन्तर्गत उपासकाध्ययन में लिखते हैं—

यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम् ।
सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता ।।२६-३१८।।

अर्थ—प्रमाद योग से जीवो का प्राण-घात करना हिसा है और उनके प्राणो की रक्षा करना अहिसा है।

इसी प्रकार अन्य भी समस्त आचार ग्रन्थो मे हिंसा की परिभाषा शरीर-घात तथा भाव-घात करना बतलाया है। यदि सोनगढ़ साहित्य के लिखे अनुसार शरीर से आत्मा के अलग कर देने को भी हिसा न माना जावे तो समस्त चरणानुयोग के ग्रन्थ असत्य ठहरते है।

सबसे बड़ा पाप या सबसे बड़ा अविरत 'हिंसा' है और सबसे बड़ा धर्म तथा सबसे बड़ा व्रत'अहिसा'है, ऐसा जैनधर्म का सार है समस्त व्रत अहिसा व्रत की शाखा रूप है। श्रावको के १२ व्रत, अहिसा अणुव्रत की ही उपशाखाएँ हैं। ११ प्रतिमाओ का आचरण उत्तरोत्तर अहिसाव्रत का ही वर्द्धमान रूप है। समस्त मुनि-चर्या सत्य आदि महाव्रत, ५ समिति ३ गुप्ति आदि अहिसा महाव्रत की शाखा रूप है।

यज्जन्तुवधसंजातकर्मपाकाच्छरीरिभिः ।
श्वभ्रादौ सह्यते दुःखं तद्वक्तुं केन पार्यते ।।८।१२।। (ज्ञानार्णव)

अर्थ—शरीर-धारियो के घात करने से अर्थात् शरीर और आत्मा को पृथक् करने से जो पाप-उपार्जन होता है, उस के फल रूप नरकादि गतियो मे जो दुख भोगना पडता है, वह दुख वचनो से नही कहा जा सकता।

निश्चय और व्यवहार

ससार अवस्था व्यवहारनय-आश्रित है । कर्म-आस्रव, कर्म-बन्ध, जन्म, मरण, ससार-भ्रमण, रागद्वेप आदि विकृत भाव, अहिंसा आदि व्रत, तप, नियम, ध्यान, अध्ययन, सवर, निर्जरा. पाप, व्यसन, खान-पान, आहार, विहार आदि सभी बातें व्यवहार रूप है । जिस जन्म, मरण दोप का नाश करने पर मुक्ति मिलती है, वह जन्म, मरण भी व्यवहार रूप है । इसी तरह ससार के अन्य सभी कार्य व्यवहार रूप हैं । निश्चय मे न बध है और न मोक्ष है ।

जैसे कर्म-बन्धन व्यवहार रूप है, इसी तरह कर्म-मोचन भी व्यवहार रूप है । अर्हन्त भगवान व्यवहार रूप है, जिनवाणी व्यवहार रूप है, समयसार व्यवहार रूप है श्री कहान जी स्वामी व्यवहार आत्मा है, उनका प्रवचन व्यवहार है । फिर उनका यह कहना ही गलत है कि—

'निश्चय मे हिंसा का विकल्प नहीं हो सकता ।'

क्योकि निश्चय मे तो अहिंसा का भी विकल्प नही है । निश्चय मे तो श्री कहान जी स्वामी कुछ भी कह नही सकते, कुछ भी लिख नही सकते, कोई भी मुमुक्षु उनका प्रवचन सुन नही सकता । प० वशीधर जी कलकत्ता जब स्वय व्यवहार की मूर्ति हैं, तब वे निश्चय की बात भी क्या कर सकते हैं ?

सोनगढ-साहित्य का कोई भी श्रद्धालु जरा किसी मनुष्य का आत्मा उसके शरीर से पृथक् कर देवे और निश्चय नय का अनुभव (ऐक्सपैरीमेन्ट) करके देख ले ।

शरीर जब जड है और जड को मारने से हिंसा होती नही है, तब आचार्य कुन्दकुन्द आदि महान ग्रन्थकारो के द्वारा की गई हिंसा की परिभाषा और व्याख्या गलत है या नही ? प० वशीधर जी इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दें । इससे तो जिनवाणी गलत ठहरती है । ससार मे फिर न कुछ पाप रहता है, न पुण्य, न कोई अपराध ठहरता है ।"

इस तरह सोनगढ साहित्य का विधान सारा मामला चौपट कर देता है।

शास्त्राधार

प० वंशीधर जी ने इस विषय मे चार शास्त्राधार दिये है, उनमें से किसी भी आधार से यह बात सिद्ध नही होती कि—

"जीव को शरीर से भिन्न कर देने पर हिंसा नहीं होती"।

१—तत्वार्थसूत्र मे हिंसा की परिभाषा मे 'प्रमाद योग से प्राणों के घात को हिंसा' कहा है। प० वंशीधर जी इसका यह अभिप्राय कहां से निकालते है कि 'शरीर और आत्मा को अलग कर देने पर हिंसा नहीं होती' प्राण का अभिप्राय तो शरीर से है।

प्रमत्तयोग छठे गुणस्थान तक रहता है, उससे आगे ध्यान-अवस्था है, अत. शरीर से आत्मा को भिन्न करना तो प्रमाद योग से ही होता है, अत वह तत्वार्थसूत्र के अनुसार हिंसा है।

२—पुरुषार्थसिद्धि-उपाय के श्लोक ४४ के अनुसार राग भाव नष्ट हो जाने पर वास्तव मे दशवे गुणस्थान से ऊपर ही अहिंसा हो सकती है अथवा व्यक्त राग की अपेक्षा सातवें गुणस्थान से हो सकती है। उस अहिंसा का अधिकारी भरत क्षेत्र का आज कल का कोई भी अध्यात्म-उपदेष्टा, व्रती, अव्रती, मुमुक्षु नही है। अतः द्रव्य-भाव-प्राणघात रूप जो व्याख्या पुरुषार्थसिद्धि-उपाय के ४२ वे श्लोक में है, वह ठीक है।

३—समयसार की २३८ से २४६ तक की गाथायें बन्धाधिकार की है, उनमे कर्म-बन्ध की वार्ता है, उनमे हिंसा की व्याख्या नही है। अतः यह आधार इस विषय मे व्यर्थ है।

४—प्रवचनसार गाथा २१७ में अप्रमादी मुनि के द्वारा जीवघात

हो जाने पर वध न होना बतलाया है, उसका अभिप्राय सोनगढ साहित्य की हिंसा-विधायक व्याख्या से भिन्न है। यत्नाचार से चलने वाला मुनि किसी जीव को शरीर से भिन्न नही करता, यानी किसी जीव को मारता नही है किन्तु सोनगढ का साहित्य कहता है कि 'आत्मा शरीर से भिन्न है, अतः शरीर से आतमा को भिन्न कर देना हिंसा नही हैं, जड़ शरीर को मारने से हिंसा नहीं होती।' इस तरह प्रवचन-सार के आधार से सोनगढ साहित्य के विधान का समर्थन नही होता।

यहाँ इतना ध्यान और भी रखना आवश्यक है कि यदि ईर्या समिति से सावधानी से चलते हुए भी मुनि के पैर के नीचे अचानक कोई जीव आकर मर जावे, तो मुनि उसका भी प्रायश्चित्तलेते है। देखो प्रवचनसार गाथा २१७ की टीका—

एवमभ्यन्तरच्छेदायतनमात्रत्वाद्बहिरंगच्छेदोऽभ्युपगम्येतैव।

अर्थ—ऐसा होने पर भी बहिरंग छेद (हिंसा) अन्तरग छेद (हिंसा) का आयतन मात्र ह, इसलिए उसे मानना ही चाहिये।

दूसरी वार्ता

प्रस्तावित सोनगढ साहित्य की दूसरी वार्ता यह है—

"जीव-रक्षा, दयाभावना परमार्थ से जीवहिंसा है।"

सोनगढ़ साहित्य का यह कथन भी आगम-विरुद्ध है।

आत्मा का सर्वोत्कृष्ठ धर्म अहिंसा है, वह अहिंसा दया भाव से उत्पन्न होती है। निर्दय जीव ही परघात करके हिंसा करते है, दयालु मनुष्य किसी की हिंसा नही करता। दया भावना के कारण ही मास खाने का, अण्डा खाने का, शराब पीने का, शहद खाने का त्याग किया जाता है। मनुष्य मे यदि दया की भावना न हो तो सिंह चीता, भेडिया के समान मनुष्य भी समस्त जीवो को मार कर खा जावे।

उस जीव-रक्षा करने वाली दया को जीव हिंसा बतलाना उलटी बात है।

धर्म की व्याख्या करते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्य बोधपाहुड में लिखते हैं—

धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्वसङ्गपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो, उदयकरो भव्वजीवाणं ॥२५॥

अर्थ—दया से विशुद्ध धर्म, समस्त परिग्रह से रहित प्रव्रज्या, मोह रहित देव, भव्यजीवों का कल्याण करने वाले हैं।

यानी—श्री कुन्दकुन्द आचार्य धर्म उसी को मानते हैं जो दयामय है।

सोनगढ से प्रकाशित नियमसार ग्रन्थ के १९वें पृष्ठ पर टीकाकार द्वारा उद्धृत निम्नलिखित गाथा है—

सो धम्मो जत्थ दया सोवि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो ॥

अर्थ—धर्म वह है जहाँ दया है, तप वह है जिसमे विषयभोगो का निग्रह (नियन्त्रण) है, आराध्य देव वह है जिसमे १८ दोष नही हैं।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा मे लिखा है—

णिज्जियदोसं देवं, सव्वजिवाणं दयावरं धम्मं।
वज्जियगंथं च गुरुं, जो मण्णदि सोहु सद्दिट्ठी ॥३१७॥

अर्थ—जो दोषरहित देव को, समस्त जीवों पर दया करने वाले धर्म को तथा निर्ग्रन्थ गुरु को मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

हिंसारंभो ण सुहो देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु।
हिंसा पावं ति मदो दयापहाणो जदो धम्मो ॥४०६॥

अर्थ—देव के निमित्त या गुरु के निमित्त हिंसा करना शुभ कार्य

नही है क्योकि हिंसा को पाप माना गया है और धर्म दया-प्रधान है यानी—धर्म मे दया प्रधान है ।

देवगुरूण णिमित्त हिंसासहिदोवि होदि जदि धम्मो ।
हिंसारहिदो धम्मो, इदि जिणवयण हवे अलियं ॥४०७॥

अर्थ—यदि देव, गुरू के निमित्त किया हुआ हिंसा कार्य भी धर्म होता तो जिनेन्द्र भगवान का यह वचन असत्य हो जाता कि "धर्म हिंसा-रहित होता है ।"

श्री कहान जी स्वामी जीवहिंसा और जीवदया को आत्मा का विकार बतलाते है एव जीवदया से धर्म होना नही बतलाते, तब स्वामी कार्तिकेय स्पष्ट रूप से जीवदया को धर्म कहते है ।

ट्रैक्ट के ९वें पृष्ठ पर अंकित सोनगढ साहित्य का यह कथन भी गलत है कि "पर-जीव को कोई नहीं मार सकता ।"

बूचडखानो मे कसाइयो द्वारा हजारो लाखो बकरी, गाय, सूअर आदि पशु प्रतिदिन मारे जाते है । शिकारी लोग प्रतिदिन हजारो पशु-पक्षियो को मारते है । मछलीमार लाखो मछलियाँ प्रतिदिन मारते हैं । सिह आदि हिंसक पशु प्रतिदिन हजारो पशुओ को मार कर खाते हैं कीटकमार औषधियो से प्रतिदिन असख्य कीडे-मकोडे मारे जाते हैं । तब यह कहना या लिखना गलत है कि 'परजीव को कोई नही मार सकता ।'

निकाचित आयु वाले जीव को कोई नहीं मार सकता परन्तु उसको भी क्षतविक्षत (घायल) तो किया जा सकता है, इस तरह द्रव्यहिंसा तथा भावहिंसा तो उसकी भी की जा सकती है । जिन जीवो की अनपवर्त्य आयु नही होती उनको तो विष, शस्त्र, अग्नि आदि द्वारा मारा जा सकता है ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भावपाहुड मे लिखा है—

विसवेयण—रत्तक्खय-भयसत्थग्गहणस किलेसेण।
आहारुस्सासाणं निरोहणे खिज्जए आऊ ॥२५॥

हिम-जलण-सलिल-गुरुयर-पव्वय-तरु-रुहण-पडण-भंगेहि ।
रसविज्जजोयधारण अण्णपसंगेहिं विविहेहिं ॥२६॥
इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवार।
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त ॥२७।-

अर्थ—विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, आहार तथा श्वास का रुकना, वर्फ, अग्नि या जल मे गिरना, ऊँचे पर्वत तथा वृक्ष से गिर जाना, घातक रसायन से, बिजली गिरने, समाधि लगाने आदि घटनाओ से आयु क्षीण हो जाती है। इस तरह हे मित्र! तिर्यञ्च और मनुष्य भव मे उत्पन्न हो होकर तूने बहुत बार अकालमृत्यु का महान दुख पाया है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य के इस कथन से सोनगढ़-साहित्य की ऊपरी वात असत्य प्रमाणित होती है। सोनगढ का साहित्य अकालमरण नही मानता, उस मान्यता का खण्डन भी श्री कुन्दकुन्द आचार्य की इन तीन गाथाओ द्वारा होता है।

ज्ञानार्णव मे लिखा है—
तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम्।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण ॥८-५७॥

अर्थ—इस लोक मे ऐसा कोई भी जिनेन्द्र, देवेन्द्र, चक्रवर्ती रूप कल्याण पद नही है जो जीव-रक्षा के अनुराग से प्राप्त न होता हो। अर्थात् जीव-रक्षा के अनुराग से अरहत पद की भी प्राप्ति हो सकती है।

धर्मो नाम कृपामूल सा तु जीवानुकम्पनम्।
अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिकलक्षणम् ॥५।३५॥ (छत्रचूड़ामणि)

अर्थ—धर्म की जड़ कृपा (दया) है। जीवों पर अनुकम्पा करना दया है। अरक्षित प्राणियों की रक्षा करना धर्मात्मा का लक्षण है।

'सम्मत्तस्स पहाणो अणुकंबा वण्णिओ गुणो जम्हा।'

(वसु श्रा० गा० ६४)

अर्थ—सम्यग्दर्शन का प्रधान गुण अनुकपा (दया) कहा गया है।

दयामूलस्तु यो धर्मो महाकल्याणकारणम्।
दग्धधर्मेषु सोऽन्येषु विद्यते नैव जातुचित् ॥२३॥
जिनेन्द्रविहिते सोऽयं मार्गे परम दुर्लभे।
सदा सन्निहितो येन त्रैलोक्याग्रमवाप्यते॥२४॥(पद्म पुराण पर्व८५)

अर्थ—जो धर्म दया-मूलक है वही महाकल्याण का कारण है। ससार के अन्य दग्ध धर्मों मे वह दयामूलक धर्म कभी भी विद्यमान नहीं है अर्थात् उनसे भिन्न है। वह दयामूलक धर्म जिनेन्द्र के भगवान द्वारा प्रणीत परमदुर्लभ मार्ग मे सदा विद्यमान रहता है, जिसके द्वारा तीन लोक का अग्रभाग अर्थात् मोक्ष प्राप्त होती है।

गलत-आधार

दया भावना को 'जीव हिंसा' प्रमाणित करने के लिए प० वशीधर जी ने पाच शास्त्रीय आधार दिये हैं, वे भी गलत हैं—

१—मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३१ से ३३३ तक का कथन आस्रव तत्व की मुख्यता से किया गया है, अतः श्री प० टोडरमल जी ने वहाँ अहिंसा आदि से केवल पुण्य-आस्रव होना बतलाया है। अहिंसा आदि व्रतो मे पांचवें, छठे गुणस्थान मे जो अनेक कर्मों का सवर और निर्जरा होती है, उसका कथन वहाँ उन्होने नही किया। यह कथन उन्होने पृष्ठ ३४० तथा ३४१ पर निम्नलिखित किया है—

"स्तोक शुद्धता भए शुभोपयोग का अंश रहे, सो जेती शुद्धता भई ताकरि तो निर्जरा है और जेता शुभभाव है ताकरि बन्ध है। ऐसा मिश्र-भाव युगपत् हो है, तहा बन्ध वा निर्जरा दोऊ ही हैं।"

इसके सिवाय गोम्मटसार की गाथा ९७ तथा ९८ के अनुसार पांचवें गुणस्थान तथा छठे गुणस्थान के दयाभाव या अहिंसा चारित्र द्वारा अनेक कर्म प्रकृतियों का संवर भी होता है।

धवलपुस्तक ८ पृष्ठ ८३ पर तथा जयधवल पुस्तक १ पृष्ठ १०७ पर श्री वीरसेन आचार्य ने अहिंसा आदि व्रतों से असंख्यातगुणी निर्जरा होना बतलाया है।

इसलिये मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३१-३३२-३३३ का कथन पृष्ठ ३४०-३४१ तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड एव धवल, जयधवल के साथ मिलाकर ठीक तरह से समझना चाहिये।

श्री प० टोडरमल जी ने 'दया को जीव हिंसा' कही नही बतलाया है। अत: यह आधार आपका मनोरथ सिद्ध नहीं करता।

२—समयसार के कलश १६९ में यह बतलाया है कि "अन्य जीव के रक्षक तथा मारक मानने के अभिमान करने वाले मिथ्यादृष्टि होते हैं। अभिमानी मिथ्यादृष्टि अपना घात करते हैं।" उस कलश का यह अभिप्राय कभी नही है कि 'पुरुष जो जीवदया करता है उसका वह दयाभाव 'हिंसा' है।'

अत: इस कलश से सोनगढ साहित्य की दया-विषयक गलत मान्यता का समर्थन नही होता।

३—निर्दयता की विरक्ति रूप 'दया' आत्मा का विकार नही है, विकार तो निर्दयता है, हिंसा है, अतः दया द्वारा आत्म-स्वभाव का घात नही होता।

केवल ज्ञान के १० अतिशयो मे एक अतिशय अर्हन्त भगवान के 'अदया का अभाव' है। अतः अर्हन्त भगवान को सर्वोत्कृष्ट दयालु माना जाता है, उनके शरीर से भी किसी भी जीवका रत्नमात्र घात नही होता। अत. अदया आत्मा का विकार है, दया आत्मा का विकार नही है।

श्री वीरसेन आचार्य ने धवल सिद्धान्त ग्रन्थ मे दया को आत्मा का स्वभाव वतलाया है। वे लिखते हैं—

"करुणाए कारण कम्म करुणेत्ति किण वुत्त ? ण, करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। अकरुणाए कारणं कम्म वत्तव्व ? ण एस दोसो, सजमघादिकम्माणं फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।"

अर्थ—(शका) करुणा (दया) का कारणभूत कर्म 'करुणा' कर्म है, यह क्यो नही कहा ? समाधान—नही, क्योकि करुणा (दया) जीव का स्वभाव है, उस करुणा (दया) को कर्म-जनित मानने में विरोध आता है।

शका—तो फिर अकरुणा (अदया) का कारण कर्म कहना चाहिये।

समाधान—यह कोई दोष नही, क्योकि अकरुणा (अदया) सयम-घाती (चारित्रमोहनीय) कर्म का फल है।

इस तरह सिद्धान्त ग्रन्थ दया को आत्मा का स्वभाव और हिंसा को मोहनीय कर्म का फल (क्रोध, द्वेष आदि रूप मे) कहता है।

अत आत्म-अवलोकन ग्रन्थ का आधार भी सोनगढ साहित्य के लिये निराधार है।

४—मोक्षमार्ग प्रकाशक का ३३५ पृष्ठ का कथन वन्ध की मुख्यता से कहा गया है, वहाँ पर 'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः' सूत्रानुसार दयामय अहिंसाव्रत तथा समिति, चारित्र द्वारा होने वाले सवर का तथा असख्यात गुणी निर्जरा का कथन गौण रक्खा है। उस कथन को मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ ३४०-३४१ के कथन के साथ मिलाकर पढने से तथा तत्वार्थसूत्र के पूर्वोक्त सूत्र एवं गोम्मटसार में प्ररूपित पाँचवें छठे गुणस्थान के सवर प्रकरण को पढने से श्री प० टोडरमल जी का कथन ठीक तरह समझ मे आ सकेगा। और सोनगढ

साहित्य का यह भ्रम दूर हो जायेगा कि 'दया से, अहिंसा से केवल कर्मबन्ध होता है।'

दया, अहिंसा के 'अदया-हिंसा की निवृत्ति रूप अश से' संवर और निर्जरा भी होती है। अतः वह शास्त्राधार भी निराधार है।

५—पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय के श्लोक ४२ मे ४० वे श्लोक के पूर्वार्द्ध को लक्ष्य रखकर असत्य वचन, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह को आत्म-परिणाम के घात का कारण बतलाते हुए उन चारो पापो को हिंसा रूप कहा है।

४४वे श्लोक मे भाव-हिंसा-विषयक राग द्वेष क्रोध आदि परिणामो की अनुत्पत्ति को अहिंसा और भावहिंसा-विषयक रागद्वेष क्रोध आदि भावों की उत्पत्ति को हिंसा बतलाया है।

पूर्णतः रागादि भाव १०वे गुणस्थान से ऊपर नही होते, अत. अहिंसा का पूर्ण रूप उन चार (११-१२-१३-१४) गुणस्थानो मे प्रगट होता है।

४३वें श्लोक मे ग्रन्थकार ने द्रव्यप्राण तथा भावप्राणो के घात करने को स्पष्ट रूप से हिंसा बतलाया ही है।

अत. पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय से भी सोनगढ साहित्य की बात सिद्ध नही होती। इसलिये यह आधार भी पं० बंशीधर जी के लिये निराधार ही है। श्री अमृतचन्द्र सूरि हिंसा-अहिंसा तथा दया-अदया के विषय में संदेहात्मक परस्पर-विरोधी कथन नही कर सकते।

———

तीसरी वार्ता

शास्त्रि परिषद के प्रस्ताव मे सोनगढ-साहित्य का आगम-विरुद्ध तीसरा साराश रक्खा गया था कि—

'व्रत तप दया के शुभभाव आत्मा के विकार हैं, बन्ध-रूप हैं।'

श्री प वशीधर जी ने इसी सारांश को सोनगढ साहित्य के पूर्ण वाक्य से दिया है —

व्रत तप दयादि के शुभ भाव हों अथवा चोरी हिंसा आदि अशुभ भाव हों सो वे दोनों विकार हैं, वन्धनमात्र अशुभ से छूटने के लिये शुभ भाव ठीक हैं किन्तु उनसे धर्म नहीं होता।

बुद्धिमान पाठक देखें कि शास्त्रि परिषद के प्रस्तावित संक्षिप्त वाक्य मे और सोनगढ़ साहित्य के इस वाक्य मे कुछ अन्तर नही है। अस्तु।

जैन धर्म मैं श्रद्धान, विचार और आचार की प्रत्येक वार्ता संसार, परिभ्रमण से तथा उसके कारणभूत कर्मबन्धन से छूटने के लिए बतलाई गई है। चरणानुयोग का कोई भी विधान कर्म-बन्धन कराने वाला नहीं किया गया। यदि कोई व्यक्ति जैन सिद्धान्त के चरणानुयोग की किसी बात को कर्म-बन्धन मानता है तो उसे अपनी गलत समझ का सशोधन करना चाहिये, न कि गलत लकीर को पीटते जाना चाहिये।

सोनगढ के आध्यात्मिक उपदेष्टा श्री कहान जी स्वामी अभी तक हिंसादिक पापो मे और अहिंसादिक व्रतो मे, इन्द्रियो के इष्ट प्रिय रुचिकर भोगो मे तथा अन्तरग-बहिरग तपो मे, परिग्रह के सचय करने मे एव दान द्वारा परिग्रह के परित्याग मे कर्म-बन्धन की अपेक्षा से भी अन्तर न समझ पावें और श्री प० बंशीधर जी कलकत्ता अन्धश्रद्धा के तौर पर उस गलत बात का समर्थन करते जावे, यह बात महान आश्चर्यजनक और खेदजनक है।

कर्मवन्धन की अपेक्षा यदि कोई व्यक्ति पाप और पुण्य में, व्रत और अव्रत में, तप और ऐन्द्रिय विषय-भोगों में एव दान और परिग्रह-संचय में कुछ अन्तर नही समझते, तो उन्हे कर्मबन्ध का विशद विवेचन करने वाला गोम्मटसार कर्मकाण्ड ग्रन्थ पढ़ने की आवश्यकता है। कर्म-बन्धन की प्रक्रिया को बिना समझे चाहे जो कुछ लिख देना उचित नही है।

आप जिन कुन्दकुन्द आचार्य को अपना आदर्श गुरु मानकर उन पर अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं, उनकी वाणी का ध्यान से अध्ययन करें। वे निःस्पृह, विश्वहितैषी साधु थे, वञ्चक नही थे, कर्मबन्धन और कर्ममोचन के महान ज्ञाता विद्वान थे। जब वे अपने ग्रन्थो में अहिंसा आदि व्रत पालन करने का, अन्तरंग-बहिरग तप करने का, दयाभाव करने का स्पष्ट उपदेश देते हैं, तब क्या वे जीवो को कर्म-बन्धन में डालकर ससार मे परिभ्रमण कराने की नीति का उपयोग करते है? क्या गुरु की श्रद्धा का यही प्रमाण है?

यदि पाप और व्रत, हिंसा और अहिंसा, दया और अदया (निर्दयता) एक ही कोटि मे हो, तो ससार मे अन्धेर मच जायगा, मनुष्य की बुद्धि पशु से भी अधिक भ्रष्ट होकर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य हो जायगी, फिर, मद्य, मांस, मैथुन, मीन और मुद्रा को मुक्ति मार्ग कहने वाले 'वाममार्ग' मे तथा उनका निषेध करने वाले जैनधर्म मे अन्तर न रहेगा।

कोई व्यक्ति व्रत, तप, संयम नहीं पालन कर सके या न करना चाहें तो न करें किन्तु उस व्रत, तप, संयम के प्रशस्त मार्ग को हिंसा आदि अव्रत, यथेच्छ विषयभोग, निर्दयता आदि अप्रशस्त मार्ग से तो न मिलावें। इस मिलान से साधारण जनता विवेकभ्रष्ट होकर पतन के गर्त मे गिरने से न बच सकेगी। सज्जन-दुर्जन, सदाचारी-दुराचारी, धार्मिक और पापियो मे कुछ अन्तर न रहेगा।

पहले तो सोनगढ साहित्य के समर्थको को यह समझना चाहिये कि —

हिंसादिक पापो के करने मे महान् राग-द्वेष और क्रोध मान, लोभ आदि तीव्र कषाय होते हैं। उन तीव्र कषायो के क्षयोपशम होने पर ही अहिंसा आदि व्रत पालन होता है। इष्ट, गरिष्ठ स्वादिष्ट भोजन करने, सुखपूर्वक रुचि के साथ कोमल शय्या पर शयन करने, मोटर आदि मे विहार करने, काम-क्रीडा करने आदि मे उत्कट राग भाव होता है और इन विषयभोगो का त्याग रूप तप, सयम, धर्म, उस उत्कट राग भाव को घटाने से होता है। तथा परिग्रह-सचय करने मे देशद्रोह, समाजद्रोह, अनीति, छल, चोरी, वेईमानी आदि दुर्भाव भी प्राय: आया करते हैं, जबकि दान करने मे उस परिग्रह से मोह भाव छूटता है। तो जो कर्म-वन्ध उन तीव्र कषायो या निकृष्ट दुर्भावो द्वारा होता है, वे ही तीव्र कषाय या दुर्भाव व्रत, तप, दान आदि करने से नही होते।

ऐसी दशा मे वीतराग धर्म के श्रद्धालु के व्रत, तप, सयम, दया, दान आदि से कर्म का सवर और अविपाक निर्जरा होगी या नही? सासारिक राग से कर्मवन्धन होता है और ससार-विराग—पापविरक्ति विषयभोग-विरक्ति, शय्या-विरक्ति, परिग्रह-विरक्ति से कर्म-सवर और कर्म-निर्जरा होती है, यदि इतना-सा भी मोटा कर्म-सिद्धान्त किसी ने नही समझा तो उसने कर्म-सिद्धात की अ, इ, उ, क, ख, ग आदि वर्णमाला भी नही जानी। ऐसी अवस्था मे उस व्यक्ति को गम्भीरता से आत्म-निरीक्षण करना चाहिये कि वह वास्तव मे अध्यात्म-उपदेशक वन भी सकता है? ठीक आध्यात्मिक रुचि या आध्यात्मिक उपदेश तथा आध्यात्मिक विचार और आध्यात्मिक आचार, इतना साधारण-सा भी कर्म-वन्धन और कर्म-मोचन का सिद्धान्त जाने विना नही हो सकता।

तदनुसार मास-भक्षी बिल्ली, भेडिया तथा घास तृण-भक्षी खरगोश,

हिरण मे एव मछली-भक्षक दूध से सफेद बगुला और कापोती रग वाले अन्न, ककड-भक्षी कबूतर के सत् असत् भाव मे, जो स्वाभाविक अन्तर है उससे भी असख्य गुणा अन्तर पापी, विषयभोगी, परिग्रहानन्दी, निर्दयी मनुष्य मे और व्रती तपस्वी, दानी तथा दयालु मनुष्य के कर्म-बन्ध, कर्म-सवर, कर्म-निर्जरा मे है ।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्धिउपाय ग्रन्थ मे लिखा है—

हरिततृणांकुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा ।
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥१२१॥

अर्थ—हरी घास चरने वाले हिरण के बच्चे में मूर्च्छा परिणाम (कषाय भाव) मन्द होता है और चूहो को मार कर खाने वाली बिल्ली में वही मूर्छा (कषाय) तीव्र होती है।

यदि यथार्थ मे श्री प० वंशीधर जी ने सोनगढ साहित्य का समर्थन करने से पहले पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय ग्रन्थ का अवलोकन किया है तो उन्होने इस ग्रन्थ के २१२-२१३ और २१४वें श्लोक का अध्ययन क्यो छोड दिया ? क्या वे इन तीन श्लोको का साधारण रहस्य भी नही समझ पाये ? या समझ-बूझ कर व्रत और अव्रत से समान कर्म-बन्धन होने की गलत बात लिखने के लिये विवश (लाचार) हुए है ?

पाठक महानुभाव श्री अमृतचन्द्र सूरि के उन आध्यात्मिक सारभूत अमृतमय श्लोको का अवलोकन करें—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१३॥
येनांशेन चरित्र तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के जितने अशमे सम्यक्त्व होता है उतने अश मे कर्म-वन्धन नही होता किन्तु जितने अश मे उसके राग-भाव है, उतने अश मे उसके कर्म वन्ध होता है ।।२१२।।

जितने अश मे सम्यग्ज्ञान होता है उतने अश मे कर्म-वधन नही होता किन्तु जितने अश मे उसके रागभाव होता है उतने अश मे उसके कर्म-वन्धन होता है ।।२१३।।

जितने अश मे व्रती त्यागी तपस्वी के सम्यक्चारित्र होता है उतने अश मे उसके कर्म-वध नही होता किन्तु जितने अश मे उसके राग भाव होता है, उतने अंश मे उसके कर्म-बंध होता है ।

इस का सीधा आध्यात्मिक तथा कर्म-सम्बन्धित अभिप्राय यह है कि व्रत तप सयम रूप चारित्र कर्म-वन्ध का कारण नही है, जैसे कि सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान कर्म-वन्ध का कारण नही है ।

जैसे सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान के होते हुए जो कर्म-वन्ध होता है, उसका कारण उसका सहवर्ती रागभाव है, इसी तरह पांचवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक जो चारित्र के रहते हुए भी कर्मबन्ध होता है, उसका कारण उस चारित्र का सहवर्ती रागभाव है ।

इसी कारण दशवें गुणस्थान तक व्यक्तराग (चौथे पांचवें, छठे गुणस्थान मे) तथा अव्यक्त राग (सातवें से १० वें गुणस्थान तक) से सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र को सराग सम्यक्त्व, सराग ज्ञान और सराग चारित्र कहते हैं । बारहवें गुणस्थान से ही स्थिति अनुभाग रूप कर्म-वन्ध रुकता है, तब ही वीतराग या निश्चय सम्यक्त्व, वीतराग ज्ञान (अपूर्ण) और वीतराग चारित्र होता है तथा तेरहवें गुणस्थान में केवल ज्ञान हो जाने से पूर्ण-वीतराग रत्नत्रय हो जाता है ।

श्री समन्तभद्रआचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे लिखा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।३।

अर्थ—अर्हन्त तीर्थंकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं।

सम्यक्चारित्र का स्वरूप इसी ग्रन्थ में यो बतलाया गया है—

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो, विरतिः सज्ञस्य चारित्रम् ।४८॥

सकलं विकल चरण, तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम् ।
अनगाराणां विकलं, सागाराणां ससङ्गानाम् ॥५०॥

अर्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, कामसेवन और परिग्रह इन पाँच पापो से विरक्त होना चारित्र है। वह चारित्र दो तरह का है—सकल और विकल। पाच पापो का पूर्ण त्यागरूप मुनियो का महाव्रती चारित्र है और पापो का एक देश त्यागरूप गृहस्थो का अणुव्रती चारित्र है।

इस तरह भावी तीर्थंकर, महान प्रभावक आचार्य श्री समन्तभद्र अणुव्रत और महाव्रत को आत्मा का धर्म बतलाते हैं।

द्रव्यसग्रह में लिखा है—

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणपिहापरीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥३५॥

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म (क्षमा आदि १०), अनुप्रेक्षा, परिषह जय और चारित्र ये सब भावसवर हैं। यानी—इन व्रत समिति, चारित्र आदि से कर्मों का संवर होता है।

श्री स्वामी कार्तिकेय अपने अनुप्रेक्षा ग्रन्थ मे लिखते हैं—

सम्मत्त देसवयं महव्वय तह जओ कसायाणं ।
एदे सवरणामा जोगाभावो तहा चेव ॥९५॥

अर्थ—सम्यक्त्व, देशव्रत (अणुव्रत), महाव्रत तथा कषायो का जय और योगो का अभाव ये संवर हैं।

इस तरह स्वामी कार्तिकेय स्पष्ट रूप से अणुव्रतो, महाव्रतो को कर्म-संवर का कारण कहते हैं।

'व्रतो द्वारा संवर भी होता है' इस पर प्रकाश डालते हुए श्री पूज्यपाद आचार्य सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट लिखते हैं—

'व्रतेषु हि कृतपरिकर्मा साधुः सुखेन संवरं करोति।'

अध्याय ७ सूत्र १।

अर्थ—व्रत पालन करने वाला साधु सुख से (सुगमता से) संवर करता है।

धवल सिद्धान्त मे लिखा है—

असंखेज्जगुणाए सेडिदेए कम्मणिज्जरहेदू वद णाम।

(पु० ८ पृ० ८३)

अर्थ—व्रत असंख्यातगुणश्रेणी कर्म निर्जरा के कारण हैं।

जयधवल सिद्धान्त मे लिखा है—

घडियजलं व कम्मे अणुसमयमसंखगुणियसेढोए।
णिज्जरमाणे संते वि महव्वईण कुदो पाव ॥६०॥

(पु० १ पृ० १०७)

अर्थ—घटी-यन्त्र (अरहट) के जल के समान प्रतिसमय महाव्रती मुनियो के जब असंख्यातगुणी श्रेणी रूप कर्मों की निर्जरा होती है, तब उनके पाप कैसे संभव है?

इस तरह दोनो सिद्धान्त ग्रन्थ व्रतो द्वारा प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा होने का स्पष्ट समर्थन करते है।

इसी कारण कर्म-बन्धन काटने के लिये श्री कुन्दकुन्द आचार्य मोक्ष-पाहुड़ मे स्पष्ट कहते हैं—

धुवसिद्धी तित्थयरो, चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा, तवयरणं णाणजुत्तोवि ॥६०॥

अर्थ—तीर्थंकर को यद्यपि आत्मसिद्धि यानी—मुक्ति उसी भव से होनी निश्चित है, वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते है, जन्म से तीन ज्ञान धारक तथा मुनिदीक्षा ग्रहण करते ही मनःपर्यय-ज्ञानी भी हो जाते है, फिर भी कर्म-क्षय करने के लिये वे तपश्चरण अवश्य करते हैं, ऐसा जानकर आध्यात्मिक ज्ञानी को तपस्या अवश्य करनी चाहिये।

यानी—कर्म-बन्धन काटने के लिए सम्यग्दृष्टि को व्रत, तप, सयम रूप चारित्र अवश्य ग्रहण करना चाहिये।

सोनगढ़ साहित्य श्री कुन्दकुन्द आचार्य की वाणी से सर्वथा उलटी बात कहता है कि "व्रत, तप, संयम को कभी पालन न करो क्योंकि उससे कर्म-बन्ध होता है।"

महान ग्रन्थ तत्वार्थसूत्र, भी 'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजय-चारित्रैः ।६-२। तथा 'तपसा निर्जरा च ।६-३। सूत्रो द्वारा चारित्र (जिसमे तप भी गर्भित है) से कर्मों का सवर और निर्जरा होना भी बतलाता है, तब सोनगढ साहित्य इससे उलटी बात कहता है।

प० वशीधरजी बतलावें कि श्री कुन्दकुन्द, श्री उमास्वाति, श्री अमृतचन्द्र सूरि, सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र आदि आचार्यों का विधान प्रामाणिक है या उसके विरुद्ध सोनगढ साहित्य का विधान प्रामाणिक है ?

यद्यपि इन आर्ष शास्त्रीय प्रमाणो के सम्मुख किसी अन्य प्रमाण का कुछ मूल्य नही है फिर भी प० वशीधर जी ने जो आधार दिये है, वे भी अप्रासंगिक है। देखिये—

१—मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २३२ का कथन अध्यवसान छुड़ाने की दृष्टि से है, कि किसी जीव की रक्षा करके या उस पर दया करके उसका अभिमान अपने हृदय मे मत आने दो कि 'मैंने इसे बचाया'। वहा पर व्रत, तप, सयम छुड़ाने का अभिप्राय नही है। श्री प० टोडरमल जी ने गोम्मटसार की विशाल टीका की है, वे पाँचवें, छठे आदि गुणस्थानो मे व्रत, तप, सयम द्वारा होने वाले कर्म-सवर और कर्म-निर्जरा को अच्छी तरह जानते थे। गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा ६७ तथा ६८ की टीका भी उन्होने की है, वहाँ देखिये उन्होने व्यवहार चारित्र-व्रत, तप, सयम वाले गुणस्थानो मे कर्म सवर होना लिखा है। ऐसी दशा मे श्री प० टोडरमल जी व्रत तपादि द्वारा केवल कर्म-बन्ध होना नहीं लिख सकते। श्री प० टोडरमल जी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ ३३४ पर महाव्रती मुनियो के सवर होना बतलाया है, उसे भी देखिये। व्रत, तप, चारित्र के समय कर्मसवर और कर्म-निर्जरा के होते हुए भी जो कर्म-बन्ध होता है, उसका कारण श्री अमृतचन्द्र सूरि कृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय ग्रन्थ के श्लोक २१४ के अनुसार उन गुणस्थानो मे विद्यमान राग अश है। जबकि चारित्र मे विरक्ति की प्रधानता है।

२—समयसार ग्रन्थ निश्चयनय की प्रधानता से लिखा गया है तथा उसके पुण्य पाप अधिकार का कथन पुण्य, पाप कर्म-बन्धन की मुख्यता से है। तदनुसार श्री प० राजमल जी कृत समयसार की टीका मे केवल कर्म-बन्धन की दृष्टि से लिखा गया है क्योकि दशवें गुणस्थान तक चारित्र के साथ रागभाव पाया जाता है, वह राग-भाव ही बन्ध का कारण है, चारित्र नही।

इस तरह वास्तव मे ये आधार सोनगढ साहित्य की गलती का समर्थन नही करते है।

चौथी वार्ता

छहढाला के अर्थ का अनर्थ

सोनगढ के साहित्य को आगम-विरुद्ध बतलाने के लिये शास्त्रि परिषद के प्रस्ताव मे चौथी बात सोनगढ से प्रकाशित छहढाला के प्रथम संस्करण मे लिखी कुशास्त्र की परिभाषा है।

श्री प० दौलतराम जी ने कुशास्त्र का प्रतिपादन छहढाला मे निम्नलिखित किया है—

एकान्तवाद दूषित समस्त, वषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कपिलादिरचित श्रुतको अभ्यास, सो है कुबोध बहु देनत्रास।

इस पद्य का सरल सीधा अर्थ है कि "जो ग्रन्थ एकान्तवाद से दूषित है और विषयभोगो की पुष्टि करने वाले है। उन कपिल आदि के बनाए हुए ग्रन्थो का अभ्यास बहुत दुःखदायक मिथ्याज्ञान है।

इसकी टीका मे सोनगढ के टीकाकार ने अपने पास से ६ सख्या वाले अनुच्छेद (पैराग्राफ) मे जैन चरणानुयोग के ग्रन्थो पर प्रहार करते हुए अपने पास से लिखा है कि—

"दया, दान, महाव्रतादि के शुभ भाव से ससार परित (अल्प मर्यादित) होना बतलावे, तथा उपदेश देने के शुभभाव से धर्म होता है, आदि जिनमें विपरीत कथन हो वे शास्त्र एकान्त और अप्रशस्त होने के कारण कुशास्त्र हैं, क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्वों की भूल है।"

पाठक महानुभाव देखें कि आत्मा को सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र द्वारा कर्ममल से शुद्ध करने के लिए सम्यग्दर्शन ग्रहण करने के पश्चात् अणुव्रत, महाव्रत धारण करने का, समस्त जीवो पर दया करने का उपदेश दिया गया है। इसी के अनुसार अनादिकाल से अब तक तीर्थंकर तथा अन्य मुनिगण आचरण करके मुक्ति प्राप्त करते आये हैं।

तीर्थंकर पूर्वभव से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान-सम्पन्न होते हैं, लौकान्तिक देव, सर्वार्थसिद्धि के देव तथा अन्य एक भवावतारी देव भी सम्यक्त्व और ज्ञान-सम्पन्न होते है, उनके मुक्त होने मे कमी केवल सम्यकचारित्र की होती है, सो वह कमी वे मनुष्यभव मे मुनिदीक्षा लेकर महाव्रत धारण करके अपना वैराग्य बढाते हुए धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान द्वारा पूरी करके मुक्त होते है। आज तक एक भी मुक्तिगामी ऐसा नही हुआ जिसने महाव्रती चारित्र के बिना सिद्धि प्राप्त की हो।

परन्तु सोनगढ के नेता अणुव्रती चारित्र भी शास्त्रानुसार नही आचरण करते। यदि वे अणुव्रत, महाव्रत को आचरण नही कर सकते, तो न करें किन्तु चारित्र के विधान का ऐसा विपर्यास तो न करें जिससे यह भ्रम जनता मे फैले कि महाव्रत को धर्म कहने वाले चरणानुयोग के शास्त्र कुशास्त्र है।

जिस छहढाला ग्रन्थ की टीका मे यह बात लिखी गई है, उसी छहढाला मे अणुव्रतो तथा महाव्रतो को क्रम से मुक्ति का कारण बतलाया गया है तथा उसमे दया पालन का उपदेश है। इस प्रकार दया, महाव्रत, उपदेशात्मक भाषा समिति आदि चारित्र द्वारा अति निर्मल होता हुआ आत्मा जिस शुक्लध्यान के बल से मुक्त होता है, वह ध्यान भी उसी सामायिक चारित्र का महत्तम रूप है। इन समस्त विषयो का स्पष्ट निरूपण छहढाला मे यथास्थान किया गया है। इसी कारण श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने चारित्र को धर्म (चारित्त खलु धम्मो) कहा है, दया को धर्म (धम्मो दया-विसुद्धो) कहा है, सयम अणुव्रत, महाव्रत रूप (दुविह सजमचरण, सायार तह अणायार) कहा है, इस तरह सोनगढ

साहित्य के छहढाला-टीकाकार ने जिन बातो को कुशास्त्र का लक्षण बतलाया है, वे सब बातें छहढाला मे तथा कुन्दकुन्द-साहित्य मे एवं अन्य मूलाचार आदि ग्रन्थो मे यथास्थान लिखी हुई है।

छहढाला के पहले दो ऐडीशनो की उक्त बात पर जब आक्षेप हुआ तो उस वाक्य में उन ही बातो को ज्यो का त्यो रखकर दिगम्बर समाज की आपत्ति से बचाने के लिये 'श्वेताम्बरादि ग्रन्थों में' इतना विशेषण छहढाला के तीसरे एडीशन मे बढा दिया है।

अब प्रश्न यहां पर यह है कि 'आदि' शब्द द्वारा कुशास्त्र की मर्यादा मे वे सभी दिगम्बर जैन ग्रन्थ आते है या नही जिनमें दया, महाव्रत को तथा धर्मोपदेश रूप स्वाध्याय को धर्म माना गया है और उनसे संसार-स्थिति का छेद होना बतलाया गया है ?

तथा च—स्वय छहढाला भी सुशास्त्र है या कुशास्त्र ? यह भी बतलाया जावे क्योंकि छहढाला की पहली, चौथी और छठी ढाल मे दया को धर्म बतलाया है, चौथी ढाल मे अणुव्रतो द्वारा और छठी ढाल में महाव्रतों द्वारा ससार मर्यादित होना बतलाया गया है ?

इस बात का स्पष्टीकरण सोनगढ की ओर से अधिकृत रूप मे हुए बिना यह आक्षेप निर्मूल नही होता।

अन्य गलत बातें

छहढाला, तत्वार्थसार, पचास्तिकाय (गाथा १६०-१६१ की टीका) के अनुसार निश्चय रत्नत्रय या निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहाररत्नत्रय या मोक्षमार्ग उसका साधन है। साधन नियम से पहले होता है और साध्य उसके पश्चात् होना है। जैसे पहले आटा (साधनरूप) होता है और उसके पश्चात् साध्य रूप रोटी बनती है।

परन्तु सोनगढ का साहित्य उलटी बात कहता है। देखिए सोनगढ से प्रकाशित छहढाला (दूसरा सस्करण)—

"व्यवहार प्रथम होता है और निश्चयनय वाद मे गट होता है, ऐसा मानने वाले को नयो के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है।" पृष्ठ ५३

जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन न हो उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन भी नही हो सकता।" पृ० ५७

इस तरह छहढाला के रचयिता जब तीसरी ढाल के पहले दूसरे पद्य मे निश्चय मोक्षमार्ग का कारण व्यवहार मोक्ष मार्ग को स्पष्ट लिख रहे है, तब सोनगढ के टीकाकार मूल ग्रन्थकार के अभिप्राय के विरुद्ध यानी-उससे उलटा कहते हैं कि "व्यवहार मोक्षमार्ग को पहले और उसके बाद निश्चय मोक्षमार्ग होना बतलाने वालो को यथार्थ ज्ञान नही है।' क्योकि निश्चय सम्यग्दर्शन पहले न हो, तो व्यवहार सम्यग्दर्शन नही हो सकता।"

इस तरह प्रकारान्तर से सोनगढ के टीकाकार छहढाला के रचयिता को यथार्थ ज्ञानी नही मानते।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पचास्तिकाय मे व्यवहार मोक्षमार्ग तथा निश्चय मोक्षमार्ग को निम्नलिखित दो गाथाओ मे बतलाया है—

धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति।१६०।

अर्थ—धर्मादि द्रव्य, जीवादि तत्व, पदार्थ आदि का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। अग और पूर्वो का बोध सम्यग्ज्ञान और अणुव्रत महाव्रत तप आदि करना सम्यक्चारित्र है। यह सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र व्यवहार मोक्षमार्ग है।

इसके विषय मे टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं—

"निश्चयमोक्षमार्गस्य साधनभावमापद्यते इति।"

अर्थ—यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधन (कारण) बनता है।

अर्थात्—व्यवहार-रत्नत्रय रूप व्यवहार मोक्षमार्ग से निश्चय मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। श्री जयसेनाचार्य ने भी इस गाथा की टीका में व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय मोक्षमार्ग का साधन बतलाया है।

आगे श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते है—

णिच्छयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदोहु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति।१६१।

अर्थ—आत्मा जब इस पूर्ण रत्नत्रयमय होकर न कुछ करता है, न कुछ छोडता है, सो निश्चय नय से मोक्षमार्ग कहा गया है।

इस गाथा की टीका के अन्त में फलित अर्थ के रूप में श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते है—

'अतो निश्चयव्यवहार-मोक्षमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्न इति।"

अर्थ-इसलिए निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग में साध्य साधन भाव अच्छी तरह घटित होता है। यानी-निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि तत्त्वार्थसार के उपसहार मे लिखते हैं-

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्।२।

अर्थ—मोक्षमार्ग दो प्रकार का है, निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग। उनमे से निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उस निश्चय मोक्षमार्ग का साधन है।

इसी तरह अन्य ग्रन्थो में भी व्यवहार रत्नत्रय (मोक्षमार्ग) को

निश्चय-रत्नत्रय (मोक्षमार्ग) का कारण बतलाया है।

इस तरह आर्ष आगमो के विपरीत सोनगढ साहित्य का छहढाला टीका ग्रन्थ पहले निश्चय-नय को और उसके बाद व्यवहार नय को होना बतला कर आगम के प्रतिकूल कथन करता है।

मोक्षमार्ग

सोनगढ के छहढाला मे पृष्ठ ५५ पर निम्नलिखित आगम-प्रति-कूल बात मोक्षमार्ग प्रकाशक का उद्धरण देकर लिखी है—

"किन्तु एक निश्चय मोक्षमार्ग है और दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग है—इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।"

जब श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने पचास्तिकाय आदि ग्रन्थ मे श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने एव श्री अमृतचन्द्र सूरि आदि ने स्पष्ट रूप से दो प्रकार का मोक्षमार्ग बतलाया है। तब आर्ष आगम के प्रतिकूल तथा मूल ग्रन्थ छहढाला (सम्यक् दर्शन ज्ञान चरण शिव-मग सो दुविधि विचारो) के प्रतिकूल दो प्रकार के मोक्षमार्ग का निषेध करना, उसे मिथ्या ठहराना सोनगढ साहित्य का अनुचित विधान है।

इसी तरह छहढाला के पृष्ठ १४४ पर सोनगढ के टीकाकार लिखते हैं—

'व्यवहार रत्नत्रय वह धर्म नहीं है—ऐसा बतलाने के लिये यहाँ गाथा में 'सारे' शब्द का प्रयोग किया है।'

यह बात भी छहढाला-कार के अभिप्राय के विरुद्ध लिखी है। छहढाला की तीसरी, चौथी पाँचवी और छठी ढाल के पूर्व भाग मे व्यव-हार रत्नत्रय को धर्म मान-कर ही श्री प० दौलतराम जी ने इसे लिखा है फिर भी सोनगढ के टीकाकार व्यवहार रत्नत्रय को धर्म ही नही मानते।

वैसे तो पांचवीं ढाल के १४वें पद्य के 'मारे' शब्द का अर्थ 'नष्ट' है। फिर भी यदि टीकाकार इस शब्द का अर्थ 'मारूप करते' हैं तब भी उसमें व्यवहार रत्नत्रय का निषेध प्रमाणित नहीं होता। क्योंकि व्यवहार सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र ये, मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम के त्याग रूप होते हैं, इनने अंश में मोह और राग का अंश नहीं होता है। अतः व्यवहार रत्नत्रय; मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम के निवृत्ति रूप होने से धर्म रूप है। उन्हें धर्म न मानना सोनगढ साहित्य की छहढाला तथा आर्ष आगमों के प्रतिकूल कल्पित गलत मान्यता है।

छहढाला के रचयिता श्री पं० दौलतराम जी ने छहढाला का उपसंहार करते हुए छठी ढाल मे इसे और भी स्पष्ट लिखा है—

मुख्योपचार दुभेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरैं,
अरु धरेंगे ते शिव लहैं तिन सुयश-जल जगमल हरै।१४।

अर्थ—इस तरह जो भाग्यशाली निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय को धारण करते हैं तथा भविष्य में जो इन दोनों तरह के (निश्चय और व्यवहार) रत्नत्रय को धारण करेंगे, वे संसार से मुक्त होंगे। उनका स्वच्छ यशरूपी जल संसार का मैल दूर करता है।

इसकी टीका मे सोनगढ़ के टीकाकार लिखते हैं कि—

"गुणस्थान के प्रमाण में शुभराग आता है, वह व्यवहार रत्नत्रय का प्रमाण जानना तथा उसे उपादेय न मानना, उसका नाम व्यवहार-रत्नत्रय का धारण करना कहलाता है।

शुभ राग को व्यवहार रत्नत्रय कहना गलत है। शुभ राग भिन्न औदयिक भाव है, और सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय आत्मा का औपशमिक, क्षायिक (सम्यक्त्व), क्षायोपशमिक भाव है। अतः व्यवहार रत्नत्रय को शुभ राग कहना गलत है [illegible]

ग्रन्थकार जब व्यवहार रत्नत्रय को भी धारण करने की अनुमोदना करता है, धारण करने वाले को बड़ा भाग्यशाली बतलाता है, तब टीकाकार उस व्यवहार रत्नत्रय को उपादेय नही बतलाता !

यदि व्यवहार रत्नत्रय उपादेय (ग्रहण करने योग्य) न होता, तो ग्रन्थकार तथा अन्य सभी आचार्य, उसको प्राप्त करने के लिये क्यों प्रेरणा और क्यो उसका उपदेश करते ? अर्हन्त भगवान की दिव्य-ध्वनि, शास्त्र-रचना, समवशरण तथा मन्दिर, प्रतिमा का निर्माण, प्रवचन आदि सब कुछ व्यवहार रत्नत्रय प्राप्त करने के लिये ही तो है। व्यवहार रत्नत्रय द्वारा ही तो शुक्ल-ध्यान रूप स्वरूपाचरण चारित्र या निश्चय रत्नत्रय प्राप्त होता है। सोनगढ के टीकाकार ने उस व्यवहार रत्नत्रय को उपादेय न बतलाकर ग्रन्थकार का अभिप्राय उलटा कर दिया है।

जब कि टीकाकार को मूलग्रन्थ के अभिप्राय का पोषण करना चाहिये।

क्या श्रावकव्रत, मुनिव्रत चारित्र नहीं हैं ?

सोनगढ से प्रकाशित छहढाला के पृष्ठ १२० पर लिखा है—

"निश्चय चारित्र ही सच्चा चारित्र है—ऐसी श्रद्धा करना, तथा उस भूमिका में जो श्रावक और मुनिव्रत के विकल्प उठते हैं, वह सच्चा चारित्र नहीं किन्तु चारित्र में होने वाला दोष है।"

यह बात भी श्री कुन्दकुन्द आचार्य प्रणीत चारित्रपाहुड़, मोक्षपाहुड, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थो के तथा चरणानुयोग के ग्रन्थो के रचयिता श्री अमृतचन्द्र सूरि आदि आचार्यों के एवं छहढाला के सिद्धान्त के विरुद्ध है।

पं० दौलतराम जी चौथी ढाल मे लिखते हैं—

सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दृढ़ चारित लीजे,
एकदेश और सकलदेश तसु भेद कहीजे ।१४।

अर्थ—सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् सम्यक्चारित्र को बडी दृढता से ग्रहण करो। उस चारित्र के दो भेद हैं, एकदेश चारित्र (श्रावक चारित्र) और सकल चारित्र (मुनिचारित्र)।

इसी भूमिका के अनुसार इसके आगे चौथीढाल मे श्रावक के १२ व्रतों का निरूपण किया गया है और छठी ढाल में मुनि-चारित्र का वर्णन किया गया है।

पापों का त्याग करके व्रत, तप, संयम को ग्रहण कर चारित्र आचरण करना भी यदि धर्म न हो, तो ब्रह्मचारी, क्षुल्लक ऐलक, एव आचार्य, उपाध्याय सर्व-साधु परमेष्ठी चारित्रनिष्ठ न कहलावेंगे, सभी असयमी ही रहेगे।

णमोकार मत्र में मुनिव्रती आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु को महान चारित्रनिष्ठ, पूज्य मानकर ही नमस्कार किया गया है।

चारित्र के दोष तो 'अतिचार' होते है जिनको त्याग करने का सकेत छहढालाकार ने चौथी ढाल के अन्तिम १५वें पद्य में किया है।

'बारह व्रत के अतीचार पन-पन न लगावे।'

अर्थ—बारह व्रतो के पाँच-पाँच अतिचार दोषों को न लगाना चाहिये।

आत्म-शुद्धि के लिये व्यवहार चारित्र प्रधान साधन है, इसी व्यवहार चारित्र का फलित रूप निश्चय चारित्र होता है। जैसा कि छठी ढाल में बताया गया है।

अतः सोनगढ़ साहित्य की यह बात भी आगम-विरुद्ध है।

क्या तप से निर्जरा नहीं होती ?

छहढाला की छठी ढाल मे लिखा है—

तप तपै द्वादश धरै वृष दश, रत्नत्रय सेवैं सदा,
मुनि साथमे वा एक विचरैं, चहैं नहि भवसुख कदा ।७।

अर्थ—महाव्रती मुनि बारह प्रकार के (६ अन्तरग, ६ बहिरग) तपो को तपते हैं, उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों को धारण करते हैं, अन्य मुनियों के साथ सघ में अथवा अकेले विचरण करते हैं। सांसारिक सुखो की कभी इच्छा नही करते।

इसकी टीका मे सोनगढ के टीकाकार लिखते हैं—

"अज्ञानी जीव अनशनादि तप से निर्जरा मानते हैं किन्तु मात्र बाह्य तप करने से तो निर्जरा होती नहीं है। शुद्धोपयोग निर्जरा का कारण कहा है।"

ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त ज्ञान-भण्डार सोनगढ में ही विद्यमान है, इस कारण सोनगढवासियो और उनके अनुयायियो के सिवाय सभी अज्ञानी हैं ?

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने मोक्षपाहुड मे लिखा है कि—

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदोवि करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाण-जुत्तोवि ॥६०॥

अर्थात्—तीर्थंकर को उसी भव से मुक्ति मिलना निश्चित होता है तथा वे तीर्थंकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि एव मुनि-दीक्षा लेते ही चार ज्ञानधारी होते है फिर भी तप करते हैं, ऐसा जानकर ज्ञानवान पुरुष को तप अवश्य करना चाहिये।

श्री उमास्वाति आचार्य तत्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय मे कहते हैं—

तपसा निर्जरा च ॥३॥

अर्थ—तप करने से संवर तथा निर्जरा होती है।

आचार्य समन्तभद्र स्वयम्भू स्त्रोत्र मे भगवान कुन्थुनाथ की स्तुति करते हुए लिखते हैं—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व-
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।

अर्थ—हे भगवन्! आपने परम कठोर बहिरंग तपश्चरण को अन्तरंग तप की वृद्धि के लिए किया।

भगवान आदिनाथ ने एक वर्ष का लगातार उपवास किया तथा एक हजार वर्ष तक कठोर तप करते रहे। समस्त मुक्तिगामी जीव अनशन, कायोत्सर्ग आदि बहिरंग और स्वाध्याय ध्यान आदि अन्तरंग तप करके मुक्त हुए हैं। श्री कुन्दकुन्द आदि सभी मुनि तपश्चरण करते रहे। तो क्या यह सब अज्ञान की बात है?

सोनगढ के टीकाकार छहढाला के पृष्ठ १६६ पर अन्तरंग तपो के विषय मे एक भूल का दिग्दर्शन कराते हुए लिखते हैं कि—

"अन्तरंग तपों में भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यान रूप क्रियायें बाह्य प्रवर्तन है, वह तो बाह्य तप जैसा ही जानना; जैसी बाह्य क्रिया है उसी प्रकार यह भी बाह्य क्रिया है; इस लिये प्रायश्चित्त आदि बाह्य साधन भी अन्तरंग तप नहीं हैं।"

श्री कुन्दकुन्द आचार्य आदि समस्त ऋषियो द्वारा प्रणीत ग्रन्थो में प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान को अन्तरंग तप बतलाया है, तब सोनगढ़ के टीकाकार अपनी कुतर्क से इन अन्तरंग तपों को बाह्य तप बतला रहे हैं।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक आगम-विरुद्ध बातें सोनगढ़ के टीका-

कार ने छहढाला के अर्थ का अनर्थ करके लिखी हैं। इस अनर्थ द्वारा सोनगढ के प्रकाशित छहढाला ने आगम-विरुद्ध आध्यात्मिक विष फैलाने की चेष्टा की है।

मूल ग्रन्थो के अर्थ तथा आशय के विरुद्ध ऐसा ही अर्थ का अनर्थ द्रव्यसग्रह, तत्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थो की टीका मे सोनगढ के टीकाकारो ने किया है। स्थानाभाव के कारण उन उद्धरणो को यहाँ नही दे रहे।

आधार

कुशास्त्र की व्याख्या को प्रमाणित करने के लिए लेखक ने मोक्ष मार्ग प्रकाशक के दो उद्धरण दिये हैं। पहला तो मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० २३२ का है। उसके विषय मे सोनगढ से स्पष्ट घोषणा होनी चाहिए कि—

"छहढाला मे तथा चारित्र-पाहुड, तत्वार्थसूत्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, मूलाचार आदि सभी दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थो मे जो अणुव्रत, महाव्रत, दया, दान आदि को धर्म माना गया है और उनको मुक्ति का परम्परा कारण माना गया है, वह विधान प्रामाणिक है, यथार्थ है। वे ग्रन्थ कुशास्त्र नहीं हैं।"

ऐसी घोषणा हुए विना श्वेताम्बरीय ग्रन्थो का नाममात्र उल्लेख केवल एक वहाना है।

दूसरा आधार भी यहाँ इस कारण लागू नही होता कि—

श्री प० टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ ३३६-३३७ का कथन मिथ्यादृष्टि जैन की अपेक्षा से किया है। दया, दान, अणुव्रत, महाव्रत को चारित्र धर्म-रूप तथा ससार के नाश का कारण बतलाने वाले श्री कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, पूज्यपाद आदि ग्रन्थकार ऋषि मुनि एव छहढालाकार श्री प० दौलतराम जी मिथ्यादृष्टि नही

थे। उनके विधान की अवहेलना करना, जिनवाणी में तथा महान गुरुओ मे अश्रद्धा का द्योतक स्पष्ट चिन्ह है। सोनगढ के साहित्यकारों को अपने सम्यक्त्व को प्रमाणित करने के लिये दिगम्बरीय आर्ष ग्रन्थों मे एव दिगम्बर ग्रन्थकार आचार्यों में उनका विधान सत्य मान कर

अपनी आस्था व्यक्त करनी चाहिये।

दया से धर्म तथा मोक्ष होता है ऐसा कथन प्रायः सभी आर्ष ग्रन्थो में है। श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने बोधपाहुड़ गाथा २५ में "धम्मो दयाविसुद्धो", भाव पाहुड़ गाथा १३३ में "छज्जीव कुरु दया" तथा शील पाहुड गाथा १९ मे "जीवदया सीलस्स परिवारो" कह कह जीव दया को धर्म कहा है। तो क्या सोनगढ सिद्धान्त अनुसार श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी कुशास्त्रों की रचना की है?

तन्नास्ति जीवलोके जिनेन्द्रदेवेन्द्रचक्रकल्याणम्।
यत्प्राप्नुवन्ति मनुजा न जीवरक्षानुरागेण।८।५७।(ज्ञानार्णव)

अर्थ—इस लोक मे जीवरक्षा के अनुराग से मनुष्य समस्त-कल्याण रूप पद (मोक्ष) को प्राप्त होता है। तीर्थंकर देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि ऐसा कोई भी पद नही है जो दयावान नही पाता।

दइदूण सव्वजीवे दमिदूण य इंदियाणि तह पंच।
अठ्ठविह कम्मरहिया णिव्वाणमणुत्तरं जाथ।११।२३८।
(श्री कुंदकुंद आचार्य का मूलाचार)

अर्थ—श्री कुन्दकुन्द आचार्य मूलाचार ग्रन्थ मे कहते हैं कि सर्व जीवो पर दया करके तथा पांच इन्द्रियो का नियंत्रण करके आठ कर्मों से रहित मोक्ष को जाओ।

श्री कुन्दकुन्य आचार्य दान का फल मोक्ष बतलाते हैं—

दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसतो होइ भोगसग्गमही।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं।१६। (रयणसार)

अर्थात्—जो सुपात्र को दान देता है वह क्रमशः भोग-भूमिके, स्वग

और मोक्ष सुख को प्राप्त होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

क्या—सोनगढ सिद्धान्तानुसार यह कुशास्त्र है ?

"दानतो सातप्राप्तिश्च स्वर्गमोक्षैककारणम्।

(पद्मपुरण १२३।१०८)

अर्थात्—दान से सुख की प्राप्ति होती है और दान स्वर्ग तथा मोक्ष का प्रधान कारण है।

अणुव्रत तथा महाव्रत से मोक्ष की प्राप्ति—

आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाध्यन्त्यर्थम्।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि।१८।१।(ज्ञानार्णव)

अर्थ—पाँच महाव्रतो को महापुरुषो ने आचरण किया है तथा महान पदार्थ अर्थात् मोक्ष को वे साधते हैं तथा स्वय भी बड़े हैं (निर्दोष हैं) इस कारण इनका नाम महाव्रत है।

"भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्योऽत्र मोक्षः।"

(पद्म० पच० ७।२६)

अर्थात्—भव्य जीवो को अणुव्रत अथवा महाव्रतो के द्वारा मोक्ष साधना चाहिये।

अणुधर्मोऽग्रधर्मश्च श्रेयस. पदवी द्वयी।
पारम्पर्येण तत्राद्या परा साक्षात्प्रकीर्तिता॥८५।१८॥(पद्मपुराण।)

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि अणुव्रत और महाव्रत ये दोनो मोक्ष के मार्ग हैं। इनमे अणुव्रत तो परम्परा से मोक्ष का कारण है और महाव्रत साक्षात् मोक्ष का कारण है।

सोनगढ सिद्धान्त अनुसार क्या ये सभी दिगम्बर जैन आर्ष ग्रन्थ कुशास्त्र हैं क्योकि उनमे दया, दान, व्रत को धर्म कहा है और उनका फल बतलाया है ?

—o—

पाँचवीं-वार्ता

क्या पुण्य विष्ठा के समान है ?

शास्त्रि परिषद के प्रस्ताव मे सोनगढ़ साहित्य की पाँचवी अनुचित बात निम्नलिखित है—

"ज्ञानियों ने पुण्य को विष्ठा समझ कर छोड़ दिया है, अज्ञानी उस विष्ठा को खा रहा है।"

ऐसा अभिप्राय श्री कहान जी स्वामी ने समयसार प्रवचन मे अनेक स्थानो पर प्रगट किया है।

इस विषय में मुख्य बात यह है कि—

जब श्री कहान जी स्वामी पुण्य को विष्ठा समझते हैं, तो वे स्वय तथा उनके अनुयायी उस पुण्य रूपी विष्ठा को छोड क्यों नही देते, उस पुण्य का उपभोग बड़ी रुचि के साथ क्यो कर रहे हैं ? अन्य जीव तो अज्ञानी हैं, वे पुण्य का उपभोग करें तो करे किन्तु श्री कहान जी स्वामी तथा उनके सभी अनुयायी तो महान ज्ञानी हैं, उन्हे तो अपने वचन के अनुसार इस पुण्य रूपी विष्ठा का उपभोग तत्काल छोड़ देना चाहिये, जिससे जनता के सामने एक अच्छा आध्यात्मिक आदर्श उपस्थित हो।

भूतकाल मे जिस-जिस आध्यात्मिक ज्ञानी ने पुण्य विष्ठा का परित्याग किया, वैसे एक भी व्यक्ति का नाम आज तक न तो श्री कहान जी स्वामी ने बतलाया, और न प० वशीधर जी ने अपने इस

ट्रैक्ट मे लिखा । अस्तु । उन पुरातन ज्ञानियो मे से किसी का भी नाम ज्ञात नही, तो चलो यह भूतकाल की कल्पित बात ही सही किन्तु वर्तमान मे तो ऐसे १०–५ पुण्य-विष्ठा के त्यागी ज्ञानी सामने आने चाहिये ।

पुण्य सामग्री

मनुष्य भव, सुन्दर शरीर, नीरोगता, उच्चकुल में जन्म, आवश्यक शोभाप्रद वस्त्र आभूषण का मिलना, उनका पहनना-ओढना, आवश्यक रुचिकर एव शरीर-पोषक, रसना-प्रिय भोजन पान का प्राप्त होना, सुयश, विहार करने के वाहन (मोटर आदि) तथा अन्य आवश्यक पदार्थ पुण्य कर्म के उदय से मनुष्य को प्राप्त होते हैं । जब श्री कहान जी स्वामी के कथन-अनुसार यह सब पुण्य विष्ठा समान त्याज्य है तब इस समस्त पुण्य सामग्री का परित्याग उन्हे तथा उनके अनुयायियो को तत्काल कर देना चाहिये, जिससे उनका कथन क्रियात्मक रूप से (प्रैक्टीकल) सत्य प्रमाणित हो ।

सम्यक्त्व

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) होने का बहिरग निमित्त कारण, नियमसार की, "सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा" आदि ५३वी गाथा में जिनवाणी तथा जिनवाणी के जानकार आचार्य बतलाये हैं । तदनुसार सम्यग्दर्शन उसी व्यक्ति को होता है जिसको जिनवाणी पर श्रद्धा हो ।

जिनवाणी का गणनीय ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्द आचार्य-रचित प्रवचनसार भी है, उस ग्रन्थ की ४५वीं गाथा मे लिखा है—

पुण्णफला अरहन्ता, तेसिं किरिया पुणोहि ओदइया ।

अर्थ—पुण्य कर्म के परिपक्व फल से अर्हन्त तीर्थंकर होते हैं। दिव्यध्वनि आदि उनकी क्रिया पुण्य फल के उदय से होती है।

इस गाथा की टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं—

'अर्हन्तःखलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादफला एव भवन्ति।'

अर्थ—अर्हन्त भगवान समस्त अच्छी तरह पके हुए पुण्य-रूपी कल्पवृक्ष के फल स्वरूप ही होते है।

श्री कहान जी स्वामी को तथा उनके अनुयायियो को यदि जिन-वाणी पर सच्ची श्रद्धा हो, तो इस कुन्दकुन्द तथा अमृतचन्द्र सूरि की वाणी पर उन्हे अटल विश्वास करके पुण्य को विष्ठा समान त्याज्य कभी न कहना चाहिये। क्योकि अर्हन्त पद तो परमात्मा का पद है और पुण्य का परिपक्व फल है।

श्री देवसेनाचार्य भाव-संग्रह मे स्पष्ट लिखते हैं—

सम्माइट्ठीपुण्ण ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेऊ जइवि णियाणं ण सो कुणई।४०१।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि का पुण्य संसार-भ्रमण का कारण नही होता। सम्यग्दृष्टी जीव यदि निदान न करे तो उसका पुण्य नियम से मोक्ष का कारण होता है।

श्री आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने भी पुण्य का फल समस्त जगत का साम्राज्य प्राप्त करना (त्रिलोक-वन्दनीय होना) बतलाया है।

'सर्वातिशायि पुण्यं, तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्।'

अर्थ—सब से अधिक अतिशयरूप पुण्य त्रिलोकीनाथ बनाने वाला है।

इस तरह जिनवाणी मे सम्यग्दृष्टि जीव के पुण्य का इतना भारी महत्व बतलाया है, उस पुण्य को विष्ठा के समान त्याज्य कहना (किन्तु उसका स्वय त्याग न करना) जिनवाणी की श्रद्धा से विपरीत बात है।

कर्म

आत्मा का शत्रु पौद्गलिक 'द्रव्यकर्म' (ज्ञानावरण आदि) तो है ही, किन्तु इसके साथ ही उसका अपना अन्तरङ्ग शत्रु 'भावकर्म' (राग द्वेष मोह आदि विकृत भाव) भी है। 'चोर चोर मौसेरे भाई' कहावत के अनुसार 'द्रव्य कर्म' और 'भावकर्म' एक दूसरे के सहायक निमित्त हैं। भावकर्म के निमित्त से द्रव्यकर्म बनता है या बन्धता है तथा द्रव्य-कर्म के निमित्त से भावकर्म होता है। आत्मा का राग द्वेष आदि विकृत भावरूप 'भावकर्म' ऐसा नही ह जो द्रव्यकर्म के निमित्त के बिना (ज्ञानावरण मोहनीय आदि के उदय के बिना) होता हो। इस तरह द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म मे द्रव्यकर्म बनने की परम्परा ससारी आत्मा के सदा से (अनादिकाल से) चली आ रही है।

पाप रूप द्रव्यकर्म

आठ द्रव्यकर्मों मे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्त-राय ये चार घाती कर्म हैं। ये आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य नामक अनुजीवी गुणो का घात करते है, अतः ये चारों कर्म पापरूप या अशुभ माने गये हैं।

घाती कर्मो के सिवाय चार अघाती कर्मों मे भी असाता वेदनीय, नरक आयु, नीच गोत्र और नाम कर्म की नरकगति तिर्यञ्चगति आदि प्रकृतिया भी पाप कर्मरूप है। इस तरह आठो कर्मों मे पापरूप प्रकृतियाँ अशुभ प्रकृतियाँ हैं। इन पाप प्रकृतियो के उदय से न तो सासारिक सुख साता मिलती है, न मुक्तिमार्ग का सहायक साधन प्राप्त होता है।

पुण्य द्रव्यकर्म

पूर्वोक्त पाप प्रकृतियो (कर्मों) के सिवाय शेष ६८ प्रकृतियाँ 'पुण्य कर्म' रूप है, साता वेदनीय, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आयु (तिर्यञ्च जीव मरना नही चाहता, अतः तिर्यञ्च आयु भी शुभ मानी गई है), उच्च गोत्र (मुनि दीक्षा करने योग्य कुल) तथा नाम कर्म की ६३ प्रकृतियाँ—मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पचेन्द्रिय जाति, निर्माण, ५ शरीर, ५ बधन, ५ सघात, ३ अगोपाग, ५ वर्ण, ५ रस, २ गन्ध, ८ स्पर्श, समचतुरस्र सस्थान, वज्रऋषभनाराच संहनन, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगोगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति और तीर्थंकर।

इन पुण्य प्रकृतियो के उदय होने पर सासारिक सुख-सुविधा आत्मा को मिला करती है तथा मुक्ति-साधन के लिये योग्यता प्रगट होती है। जैसे मनुष्य भव, वज्रऋषभनाराच संहनन, तीर्थंकर आदि का उदय होने पर मुक्ति के साधन सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र प्राप्त करना सुलभ होता है।

जैसे काटे द्वारा पैर मे चुभा हुआ काटा निकलता है, उसी तरह ससार-भ्रमण के कारण भूत आठो कर्मो का क्षय भी मनुष्य आयु, उच्च-गोत्र, तीर्थंकर आदि पुण्य कर्मों के समागम से होता है। मुक्ति की प्राप्ति मनुष्य आयु, उच्चगोत्र, वज्रऋषभनाराच संहनन आदि कर्मों के उदय होने पर ही संभव है। यदि इन पुण्य कर्मों का उदय न हो तो त्रिकाल मे भी मुक्ति मिलना असंभव है।

मनुष्य आयु आदि के मिलने पर भी मुक्ति न हो, यह अन्य बात है परन्तु यदि मुक्ति मिलेगी तो मनुष्य की आयु, उच्च गोत्र, वज्रऋष-

भनाराच सहनन आदि कर्म-उदय होने पर ही मिलेगी। तीर्थंकर प्रकृति के उदय से तो नियम से मुक्ति मिलती ही है।

इस तरह पुण्य द्रव्यकर्म सासारिक सुख शाति का कारण तो है ही किन्तु इसके साथ ही भव्य जीघ के लिये मुक्ति का भी अविनाभावी कारण है।

पाप-भावकर्म

आत्मा के तीव्र कषाय के उदय से मिथ्यात्व क्रोध मान, माया, लोभ, रागद्वेष, काम वासना, हिंसा, असत्य भाषण, चोरी, व्यभिचार, विश्वासघात, धोखा, अन्याय, अनीति, आर्तध्यान, रौद्रध्यान आदि के परिणाम पापमय भावकर्म हैं। इन भावकर्मों से अशुभ द्रव्यकर्मों का आस्रव-वध हुआ करता है।

पुण्य-भावकर्म

जो आत्मा को, पवित्र करे सो पुण्य कर्म है। मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषाय के अनुदय होने पर तथा सरागसम्यक्त्व सराग चारित्र के दया, दान करने, वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु एव जिनवाणी की भक्ति पूजा, अहिंसा आदि ५ व्रत, ईर्या आदि ५ समिति ३ गुप्ति क्षमा मार्दव आदि धर्म, धर्मध्यान आदिक रूप शुभ भाव होते हैं, वे पुण्य भाव हैं।

इन पुण्य भावो से सासारिक सुख तो मिलते ही हैं किन्तु इसके साथ ही ये पुण्य भाव शुक्लध्यान के साक्षात् तथा परम्परा कारण हैं। शुक्लध्यान की पूर्ववर्ती पर्याय—धर्मध्यान पुण्य रूप ही है इसलिए तो पुण्यभाव शुक्लध्यान का साक्षात् कारण है।

अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान का साक्षात कारण अणुव्रत, महाव्रत वाला पाचवा छठा गुणस्थान है, अत पुण्य भाव शुक्लध्यान का

परम्परा कारण है। दशवे गुणस्थान तक शुक्लध्यान भी पुण्य भाव है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने 'पुण्णफला अरहता' वाक्य द्वारा अर्हन्त पद की प्राप्ति पुण्य का सर्वश्रेष्ठ फल बतलाया है।

इस तरह 'पुण्य' का अभिप्राय उक्त तीन अर्थों मे लिया जाता है। इसको प्रकारान्तर से साधन, साध्य, और फल या कारण, कार्य और फल भी कह सकते है।

जिस तरह बहुत मैले वस्त्र को निर्मल करने के लिये उस कपड़े पर साबुन लगाया जाता है और उसे पानी से धोया जाता है तो कपड़े का मैल धीरे-धीरे दूर होता जाता है और वह वस्त्र स्वच्छ होता जाता है। इसी प्रकार कर्ममल से मैला आत्मा जब अपनी स्वच्छ मानसिक वाचनिक और शारीरिक क्रिया से आत्मा का अशुभ मैल धोने लगता है तो आत्मा से अशुभ कर्म मल छूटने लगता है जिससे आत्मा का पाप मल भार हलका होने लगता है।

सम्यग्दर्शन हो जाने पर सबसे बडा पाप 'मिथ्या श्रद्धान या मिथ्यात्व' मैल आत्मा से दूर हो जाता है। उस मिथ्यात्व द्वार से घुसने वाला कर्म-मल का आना बन्द हो जाता है। अत एव मिथ्यात्व, नरक आयु आदि ४१ प्रकृतियो का सवर (आस्रव-निरोध) हो जाता है, किन्तु प्रशस्त राग के कारण मोक्ष के साधन भूत पुण्य का बन्ध भी होता है। इस तरह आत्मा मुक्ति मार्ग पर चल पड़ता है।

जब वह जीव अणुव्रती चारित्र ग्रहण करता है तो मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, नरकायु आदि पूर्वोक्त ४१ कर्मों (प्रकृतियो) के सिवाय अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माय लोभ, मनुष्य आयु आदि दश कर्म प्रकृतियों का और (यानी ५१ प्रकृतियों

का) सवर हो जाता है (५१ प्रकृतियोंका आस्रव, वन्ध नही होता)।

पहले से भी असस्यात गुणी निर्जरा प्रतिसमय होती है, प्रशस्त रागभाव से पहले की अपेक्षा वहा कर्म वध भी होता है। यह पाँचवा गुणस्थान होता है।

इससे भी ऊपर जव मुनि-दीक्षा लेकर महाव्रती चारित्र आचरण किया जाता है तब पूर्वोक्त ५१ कर्म प्रकृतियों के सिवाय प्रत्याख्याना-वरण क्रोध मान माया लोभ इन कर्म प्रकृतियो का (यानी ५५ प्रकृ-तियो का) सवर हो जाता है और पाँचवें गुणस्थान से भी असख्यात-गुणी कर्मनिर्जरा होने लगती है। यह छठे गुणस्थान की वार्ता है।

मुनि जव धर्मध्यान मे निमग्न सातवें गुणस्थान मे होते हैं तव उनके पूर्वोक्त ५५ कर्म प्रकृतियो के सिवाय असाता वेदनीय आदि छह कर्म प्रकृतियो का और (६१ प्रकृतियो का) सवर होता है, यानी ६१ कर्म प्रकृतियो का आस्रवबन्ध नही होता। तथा छठे गुणस्थान से भी असख्यातगुणी कर्म-निर्जरा प्रतिसमय होने लगती है। इस तरह शुक्ल-ध्यान से पहले शुभोपयोग से कर्मसवर, निर्जरा होती है।

इससे आगे आठवा गुणस्थान होता है तब सातवें से भी अधिक कर्मों का सवर और निर्जरा होती है।

इसी तरह नौवें और दशवे गुणस्थान मे शुक्लध्यानानवस्था मे क्रम से उत्तरोत्तर अधिक कर्म-सवर, कर्म-निर्जरा होती है।

मोहनीय कर्म का उदय दशवें गुणस्थान तक रहता है, अत. पुण्य भाव भी दशवें गुण-स्थान तक होता है। यही तक सराग चारित्र होता है। छठे गुण-स्थान तक व्यक्त राग भाव होता है अतः उसको प्रमत्त विरत गुणस्थान कहा जाता है। फिर सातवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक अव्यक्त राग भाव रहता है। अतएव दशवें गुणस्थान तक का सम्यक्त्व 'सराग सम्यक्त्व' होता है, इससे ऊपर मोहनीय कर्म का उदय

न रहने से वीतराग सम्यक्त्व' तथा वीतराग चारित्र प्रसिद्ध नाम यथाख्यात चारित्र रहता है।

इस तरह दशवें गुणस्थान तक भाव पुण्यकर्म का उदय रहता है। उससे ऊपर ११वें, १२वें, १३वे गुणस्थान मे पुण्यकर्मका (मनुष्य आयु, औदारिक शरीर, वज्र ऋषभ नाराच संहनन, साता वेदनीय आदि का) उदय रहता है तथा पुण्यकर्म (एक समय स्थिति वाले साता वेदनीय) का बन्ध भी होता है।

चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय तक मनुष्य आयु आदि पुण्य कर्मों का उदय रहता है, परन्तु पुण्य कर्म का आस्रव या बन्ध नही होता।

यह पुण्य भाव, पुण्य द्रव्य कर्मफल का संक्षेप से विवरण है।

भाव सग्रह मे लिखा है कि—

लद्धं जइ चरम तणु चिरकय पुण्णेण सिज्झए णियमा।
पाविय केवल णाणं जह खाइय संजमं सुद्धं ।।४२३।।

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ।४२४।

अर्थ—यदि यह जीव अपने चिरकाल के सचित किये हुए पुण्य कर्म के उदय से चरम शरीरी हुआ तो वह जीव यथाख्यात नाम शुद्ध चारित्र को धारण करके तथा केवल ज्ञान को पाकर नियम से सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। अत. सम्यग्दृष्टी का पुण्य मोक्ष का कारण होता है। यह समझकर गृहस्थ को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये।

उपसंहार

सम्यग्दृष्टि प्राणी का पुण्यभाव साक्षात् (१० वें गुणस्थान की अपेक्षा) शुद्ध उपयोग का उपादान कारण है। तथा शुक्लध्यान का भी साक्षात् उपादान कारण है। यह पुण्यभाव सम्यग्दृष्टि जीव के चौथे से दशवें गुणस्थान तक अनेक प्रकृतियों का उत्तरोत्तर बढता हुआ संवर करता जाता है, गुणस्थान-क्रम से तथा भाव-क्रम से प्रतिसमय पूर्व-भूमिका की अपेक्षा असख्यात गुणी निर्जरा भी करता जाता है। एव उसके साथ ही कषायभाव के ससर्ग से पहले से घटता हुआ कर्म-बन्ध भी करता जाता है।

अतएव पुण्यभाव मोक्ष का कारण है, इसी कारण प्रत्येक सम्यग्दृष्टि जीव को वह आत्मकल्याण का साधक है। अत. वह अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार पुण्य भाव प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को उपादेय है।

जीने पर चढते समय पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी आदि नीचे-नीचे की सीढ़ियाँ स्वय छूटती चली जाती है, इसी प्रकार से पुण्यभाव मे उत्तरोत्तर बढते हुए भावो की श्रेणी मे क्रम से अविरति, अणुव्रत (सयतासयत) भाव छूटते जाते हैं। आत्मध्यान की दशा मे मुनि के आहार, विहार, उपदेश, शास्त्र-निर्माण आदि वाह्य क्रिया न रहने से प्रवृत्ति रूप महाव्रत तथा समिति उतने समय के लिए नही होती। आठवें गुणस्थान में उपशम श्रेणी चढने वाले मुनि को अन्तर्मुहूर्त पीछे प्रवृत्ति रूप महाव्रत, समिति, पुनः आचरण करना पडता है। क्षपक-श्रेणी के शुक्लध्यानी मुनि का प्रवृत्ति रूप चारित्र सदा के लिए छूट जाता है, परन्तु सयम (सामायिक, छेदोपस्थापना नौवें गुणस्थान तक और सूक्ष्म साम्पराय) दशवें गुणस्थान तक रहता है। तदनन्तर वीत-राग सयम (यथाख्यात चारित्र) हो जाता है। जो कि सदा (अनन्त काल तक) बना रहता है, क्षायिक भाव होने के कारण वह कभी नष्ट नहीं होता।

पुण्यकर्म का बंध १३ वें गुणस्थान तक केवली के भी होता है और पुण्यकर्म का उदय सभी गुणस्थानो (१४ वें गुणस्थान मे भी) में होता है। अन्त में नष्ट होता है।

पुण्य का उदय न हो तो—

यदि पुण्यकर्म का उदय न हो तो विवेकशील और धर्माचरण, धर्मध्यान, शुक्लध्यान करने मे समर्थ मनुष्यभव, स्वस्थ शरीर, वज्र-ऋषभनाराच संहनन, जैनधर्म का समागम, भगवान के दर्शन करने योग्य नेत्र, जिनवाणी सुनने योग्य कान, मन्दिर तथा तीर्थयात्रा करने योग्य पैर, शुभ काम करने योग्य हाथ, धर्म प्रवचन करने योग्य रसना (जीभ) कहाँ से मिलती ?

पुण्य कर्म का उदय न हो तो नीचगोत्र, दीन, भिखारी, दरिद्री, रोगी, घृणित, पतित, अपमानित परिस्थिति, म्लेच्छ खंड मिले। उस दशा मे मनुष्य होकर भी धर्म-साधन की सुविधा न मिले, समस्त जीवन भीख माँगने मे, आर्त, रौद्र परिणामो मे ही व्यतीत होवे।

भोग-उपभोग

सदाचार की उपेक्षा करके, धर्मभावना का परित्याग करके जो मद्यपान, मांसभक्षण, वेश्या-सेवन, परस्त्री-गमन आदि कुकृत्य किये जाते हैं, वह पुण्यकार्य नही है, वह तो नरक मे ले जाने वाला पापकार्य है। उसको पुण्यकार्य किसी ने नही माना।

वज्रदन्त चक्रवर्ती के समान—

बीज राखि फल भोगवै, ज्यों किसान जगमांहि।
त्यों चक्री नृप सुख करै, धर्म विसारै नांहि॥

के अनुसार पुण्यकर्म का भोग उपभोग आत्मा का अभ्युदय करने वाला है, आत्मा का पतन करने वाला नही है।

पुण्याचरण न हो तो

इस युग मे प्रथम सहनन के अभाव से शुद्ध-उपयोग होना तो असभव है। ऐसी दशा मे आजकल आचरण करने योग्य दो ही भाव शेष रहते हैं—१. शुभ और २. अशुभ। यानी पुण्य और पाप। इन दोनो में से यदि पुण्य आचरण को विष्ठा-प्रमान समझकर त्याग दिया जावे तो शेष पापाचरण ही रहेगा। तो क्या पाप का आचरण किया जावे?

यह एक मुख्य प्रश्न पुण्य को विष्ठा मानने, कहने, लिखने वालों के सामने है।

शास्त्रीय प्रमाण

श्री पूज्यपाद आचार्य ने "पुण्य" शब्द का अर्थ निम्न प्रकार बतलाया है—

"पुनात्यात्मान पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। तत्सद्वेद्यादि।"

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है, जैसे साता वेदनीयादि।

पुण्ण पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्द खेमकल्लाणा।
सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥१-८॥

(ति० प०)

अर्थ—पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ, सौख्य और मगल ये सब समानार्थक शब्द कहे गये हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी शुभ रूप पुण्य से मोक्ष की प्राप्ति होना बतलाई है।

जिणवरचरणांवुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण।
ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥ (भाव पाहुड)

अर्थ—जे पुरुष परम भक्ति अनुराग करके जिनवर के चरण कमलों-को नमते हैं वे श्रेष्ठभाव रूप शस्त्र द्वारा संसार की जड को छेदते हैं।

श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने भाव पाहुड़ की गाथा ७६ मे '**सुह धम्मं जिणवरिंदेहि ।**" धर्म ध्यान को शुभ भाव बतलाया है ।

श्री १०८ वीरसेन आचार्य ने धवल पु० १३ पृ० ८२ पर लिखा है—

'**मोहणीयविणासो पुण धम्म-ज्झाणफल ।**"

यानी—मोहनीय कर्म का विनाश धर्म ध्यान का फल है।

श्री १०८ उमास्वामी आचार्य ने भी 'परे मोक्षहेतू' सूत्र द्वारा धर्म ध्यान को मोक्ष का कारण कहा है।

श्री १०८ वीरसेन आचार्य ने जय धवल पु० १ पृ० ६ पर पुण्य रूप शुभ परिणाम से संवर निर्जरा होना बतलाया है—

'**सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो ।**'

अर्थ—यदि शुभ या शुद्ध परिणामों से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नही सकता।

"**मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्र-विशेषात्मकपौरुषा-भ्यामेव संभवात् ।**

अर्थ—मोक्ष की प्राप्ति परम पुण्य और चारित्र रूप पुरुषार्थ के द्वारा ही संभव है।

अर्थात् मात्र चारित्र रूप पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त नही होता किन्तु मनुष्य गति, उत्तम संहनन उच्चगोत्र आदि विशिष्ट पुण्य कर्म की सहकारिता की भी उसमें आवश्यकता है।

श्री जिनसेन आचार्य ने महापुराण सर्ग ३० श्लोक १२८ में लिखा है—

"पुण्यात्तीर्थंकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीं चाश्नुते।"

इन शब्दो द्वारा यह बतलाया है कि पुण्य से तीर्थंकर की लक्ष्मी प्राप्त होती है और परम कल्याण रूप मोक्ष लक्ष्मी पुण्य से मिलती है।

श्री पद्मनन्दि आचार्य ने प० पर्व ६ श्लोक ५८ मे लिखा है कि—

"कुर्वते तत् परम पुण्यं हेतुर्यत् स्वर्गमोक्षयोः।"

यानी—भव्य जीव उस पुण्य को करते हैं जो स्वर्ग और मोक्ष का कारण है।

पचास्तिकाय (श्री महावीर जी से प्रकाशित) गाथा ८५ की टीका मे पृष्ठ २३५ पर श्री जयसेन आचार्य लिखते हैं—

यथा रागादिदोषरहित. शुद्धात्मानुभूतिसहितो निश्चयधर्मो यद्यपि सिद्धगतेरुपादानकारणं भव्यानां भवति, तथा निदान-रहितपरिणामोपार्जितीर्थंकर-प्रकृत्युत्तमसहननादि-विशिष्टपुण्य-धर्मोपि सहकारिकारणं भवति।

अर्थ—जैसे राग आदि दोष रहित, शुद्ध आत्मा की अनुभूति-सहित निश्चय धर्म यद्यपि भव्यो की सिद्धगति का उपादान कारण होता है, तथा निदान-रहित परिणामो से उपार्जित तीर्थंकर प्रकृति, उत्तम सहनन आदि से विशिष्ट पुण्य रूप धर्म भी सिद्धगति का सहकारी (निमित्त) कारण होता है।

श्री प० वशीधर जा को पुण्य का मर्म, सिद्धान्त ग्रन्थो से कर्मों का आस्रव, बन्ध, उदय, सत्ता तथा संवर, निर्जरा एव गुणस्थानानुसार शुभ, शुद्ध भावो का अध्ययन करके, अवगत करना चाहिये।

वैसे तो पुण्य सदा उपादेय रहा है, किन्तु इस युग मे जब कि शुद्ध उपयोग असभव है, तब तो पुण्य और भी अधिक ग्राह्य है। स्मरण रहे कि सराग-सम्यक्त्व और सराग-सयम भी पुण्य रूप है, शुभ भाव है।

ट्रैक्ट का नोट

सोनगढ के ट्रैक्ट के पृष्ठ १८ पर नोट देकर यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि—

"श्री कहान जी स्वामी ने समयसार प्रवचन में पुण्य भाव-शुभ भाव को विष्ठा नहीं कहा किन्तु पुण्य के उदय से प्राप्त नोकर्म पुद्गल द्रव्य, भोग उपभोग रूप सामग्री को विष्ठा कहा है।"

इस विषय मे हमारा यह कहना है कि श्री कहान जी स्वामी के प्रवचन मे ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नही है, जिससे लेखक के उक्त नोट का समर्थन होता हो, यह अधिकृत घोषणा तो श्री कहान जी स्वामी की ओर से होनी चाहिए।

दूसरे—यदि उन्होंने पुण्य कर्म-उदय से प्राप्त नोकर्म पुद्गल और भोग उपभोग सामग्री को ही विष्ठा की उपमा देकर त्याज्य बतलाया है तो वह सायग्री तो अन्य साधारण व्यक्तियों के समान उनको भी प्राप्त हुई है, फिर कम से कम उनको तो उस सामग्री का परित्याग कर देना चाहिए जिससे कथनी और करनी मे एक-रसता आवे। क्या वे पुण्य के उदय से प्राप्त अपने सुन्दर मानव शरीर का, उच्च कुल का, यश कीर्ति का, अपनी भोग उपभोग-सामग्री का त्याग कर सकते हैं ? (नही कर सकते।) अतः लेखक का यह नोट भी निःसार है।

लेखक ने जो पुण्य के हीन-उपमा वाले विशेषणो के उल्लेख अन्य ग्रन्थो मे वतलाये है उनमे से एक भी उल्लेख इससे मेल नही खाता कि—

'ज्ञानियों के द्वारा छोड़ी गई पुण्यरूपी विष्ठा जगत में अज्ञानी जीव खाते हैं।'

अतः उन आधारो से इस अनुचित गलत उल्लेख का समर्थन नही होता।

अर्हन्त भगवान का समवशरण, आठ प्रतिहार्य, ३४ अतिशय भी विभूति हैं, परम औदारिक शरीर, वज्रऋषभ नाराच संहनन, उच्चकुल, यशःकीर्ति भी पुण्य विभूति है, क्या यह सब विष्ठा के समान है ? जिन-वाणी, महान आध्यात्मिक ग्रन्थ, सुन्दर मन्दिर, प्रतिमायें भी पुण्य प्राप्ति की सामग्री हैं, क्या इन्हे भी ऐसी हीन-उपमा दी जा सकती है ?

निर्ग्रन्थ मुनिचर्या, व्रतिक श्रावक चर्या, मुनियो को आहारदान, मंदिर निर्माण, ग्रन्थ-प्रकाशन, पारमार्थिक संस्थाऐं, तीर्थक्षेत्र आदि सभी पुण्य-सामग्री रूप हैं, क्या इन्हे यह हीन-उपमा दी जा सकती है ?

छठी वार्ता

शुभ भाव धर्म है या नहीं

शास्त्रि परिषद के प्रस्ताव मे सोनगढ साहित्य के अभिप्राय रूप छठी बात निम्नलिखित है—

'दान पूजादि शुभ भावों को धर्म मानना त्रिकाल मिथ्यात्व है।'

प० वंशीधर जी ने अपने ट्रैक्ट में २१ वें पृष्ठ पर श्री कहान जी स्वामी के समयसार-प्रवचन का जो अनुच्छेद (पैराग्राफ) दिया है, उसमें यह वाक्य तथा अभिप्राय विद्यमान है।

धर्म और अधर्म का अभिप्राय समझने के लिये श्री समन्तभद्राचार्य

रत्नकके रण्ड श्रावकाचार का निम्नलिखित श्लोक ध्यान मे रखना आवश्यक है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अर्हन्त तीर्थंकरो ने 'धर्म' कहा है। इन तीनो के विपरीत-मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ससार-भ्रमण के कारण है।

अभिप्राय यह है कि सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र धर्म हैं और मिथ्यात्व-अज्ञान मिथ्याचारित्र अधर्म हैं।

तदनुसार जिस व्यक्ति को रत्नकरण्डश्रावकाचार के चौथे श्लोक के अनुसार वीतराग देव, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ गुरु का श्रद्धान होता है, वह जीव सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है।

यदि वह सम्यग्दर्शन-धर्म-धारी भगवान की पूजा करता है, तो उसका वह कार्य भी कुदेव-पूजा के त्याग-स्वरूप धर्म है।

यदि सम्यग्दृष्टि अपने न्याय-उपार्जित द्रव्य से मोहममता का त्याग करके दान करता है तो वह भी धर्म है।

कुदेवों की पूजा जब मिथ्यात्व है, अतएव अधर्म है, तब उस मिथ्यात्व या अधर्म का त्यागरूप वीतराग देव की पूजा करना सम्यक्त्व या धर्म है।

धन-संचय करना, उससे मोह ममता करना परिग्रह नामक 'पाप' है। उस धन से मोह ममता का त्याग करके दान करना 'धर्म' है।

यह धर्म अधर्म की सीधी सुगम व्याख्या है।

मिथ्यात्व, पाप दुर्व्यसनो का त्याग करना 'धर्म' है तथा मिथ्यात्व सेवन, हिंसादिक पाप क्रिया, जुआ, मांस-भक्षण, मदिरापान आदि अधर्म है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भावपाहुड मे कहा है—

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं ॥७६॥

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥७७॥

अर्थ—जीवो के भाव तीन प्रकार के होते है, शुभ, अशुभ और शुद्ध। इनमें से आर्त ध्यान (दुःखी परिणाम) और रौद्र ध्यान (हिंसानदी आदि दुष्ट परिणाम) अशुभ भाव हैं। शुभभाव धर्म ध्यान रूप हैं। आत्मा का कर्म रहित शुद्ध स्वभाव शुद्ध भाव-रूप है।

ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। इनमें से जो तुमको हितकारी प्रतीत हो, उसका आचरण करो।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के इस कथनानुसार सम्यग्दृष्टि के शुभभाव धर्मरूप हैं क्योकि वे आर्त, रौद्र ध्यान रूप नही होते। शुभ भावो में प्रगति (उन्नति) होते होते उत्कृष्ट धर्म ध्यान से शुक्लध्यान का प्रादुर्भाव होता है। वह अव्यक्त राग-भाव सहित पहला शुक्लध्यान प्रगति करता हुआ जब बारहवें गुणस्थान के अन्त में द्वितीय शुक्लध्यान स्वरूप हो जाता है, तब आत्मा घातिकर्म मल से रहित होकर शुद्ध उपयोग रूप भावें को पा लेता है।

इसके अनुसार सम्यग्दृष्टि के दान पूजा आदि के शुभ-भाव धर्म रूप हैं। क्योकि दान करते समय आर्थिक-मोह का त्याग होता है और पूजा करते समय राग द्वेष-विमुक्त वीतराग देव के चिन्तन रूप एव राग द्वेष-मय देवों की श्रद्धा के त्याग रूप परिणाम होते हैं, जो कि न आर्तध्यान रूप हैं, न रौद्र ध्यान रूप हैं।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने चारित्र की व्याख्या करते हुए द्रव्यसग्रह मे स्पष्ट लिखा है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—पाप आदि अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना चारित्र है। व्रत, समिति, गुप्ति को जिनेन्द्र भगवान ने व्यवहार नय से चारित्र कहा है।

प्रमाणप्रमितार्थानां श्रद्धानं दर्शनं शुभम्।

शुभक्रियासु वृत्तिश्च चारित्रमिति वर्ण्यते।१०।१५७।(हरि०पु०)

अर्थ—प्रमाण के द्वारा जाने हुए पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, शुभ क्रियाओ मे प्रवृत्ति करना सम्यक्चारित्र है।

"पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रमुक्तं जिनेन्द्रेण ६।५। (ज्ञानार्णव)

पापक्रियाओं से निवृत्ति सम्यक्चारित्र है।

"चारित्रं पापक्रियानिवृत्तिः" (मूलाचार ५-२ टीका)

अर्थात्-पाप क्रिया से निवृत्ति चारित्र है।

तदनुसार दान और पूजा आदि शुभकार्य, अशुभ से निवृत्ति रूप तथा शुभ प्रवृत्ति रूप हैं, अत एव वे चारित्र रूप होने से धर्म रूप हैं। मुनि समस्त जीवो को अभयदान करते हैं तथा स्तुति, वन्दना रूप प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं। गृहस्थ भी अपने दैनिक षट् कर्म रूप में दान और पूजा करते हैं।

अत एव दान करना, पूजा करना तथा समिति आदि शुभ प्रवृत्ति धर्म रूप हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने रयणसार ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है—

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ॥११॥

अर्थ—श्रावक के धर्म में दान करना और पूजा करना मुख्य धर्म है। दान और पूजा बिना श्रावक धर्म नही है।

पूयफलेण तिलोके सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं।१४।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भावपाहुड मे कहा है—

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं ॥७६॥

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥७७॥

अर्थ—जीवो के भाव तीन प्रकार के होते हैं, शुभ, अशुभ और शुद्ध। इनमे से आर्त ध्यान (दुःखी परिणाम) और रौद्र ध्यान (हिंसानंदी आदि दुष्ट परिणाम) अशुभ भाव हैं। शुभभाव धर्म ध्यान रूप हैं। आत्मा का कर्म रहित शुद्ध स्वभाव शुद्ध भाव-रूप है।

ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। इनमें से जो तुमको हितकारी प्रतीत हो, उसका आचरण करो।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी के इस कथनानुसार सम्यग्दृष्टि के शुभभाव धर्मरूप हैं क्योकि वे आर्त, रौद्र ध्यान रूप नही होते। शुभ भावो में प्रगति (उन्नति) होते होते उत्कृष्ट धर्म ध्यान से शुक्लध्यान का प्रादुर्भाव होता है। वह अव्यक्त राग-भाव सहित पहला शुक्लध्यान प्रगति करता हुआ जब बारहवें गुणस्थान के अन्त में द्वितीय शुक्लध्यान स्वरूप हो जाता है, तब आत्मा घातिकर्म मल से रहित होकर शुद्ध उपयोग रूप भाव को पा लेता है।

इसके अनुसार सम्यग्दृष्टि के दान पूजा आदि के शुभ-भाव धर्म रूप हैं। क्योकि दान करते समय आर्थिक-मोह का त्याग होता है और पूजा करते समय राग द्वेष-विमुक्त वीतराग देव के चिन्तन रूप एव राग द्वेष-मय देवों की श्रद्धा के त्याग रूप परिणाम होते हैं, जो कि न आर्तध्यान रूप हैं, न रौद्र ध्यान रूप हैं।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने चारित्र की व्याख्या करते हुए द्रव्य-सग्रह मे स्पष्ट लिखा है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

अर्थ—पाप आदि अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना चारित्र है। व्रत, समिति, गुप्ति को जिनेन्द्र भगवान ने व्यवहार नय से चारित्र कहा है।

प्रमाणप्रमितार्थानां श्रद्धानं दर्शनं शुभम्।

शुभक्रियासु वृत्तिश्च चारित्रमिति वर्ण्यते।१०।१५७।(हरि०पु०)

अर्थ—प्रमाण के द्वारा जाने हुए पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, शुभ क्रियाओं मे प्रवृत्ति करना सम्यक्चारित्र है।

"पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रमुक्तं जिनेन्द्रेण ८।५। (ज्ञानार्णव)

पापक्रियाओ मे निवृत्ति सम्यक्चारित्र है।

"चारित्रं पापक्रियानिवृत्तिः" (मूलाचार ५-२ टीका)

अर्थात्-पाप क्रिया से निवृत्ति चारित्र है।

तदनुसार दान और पूजा आदि शुभकार्य, अशुभ से निवृत्ति रूप तथा शुभ प्रवृत्ति रूप हैं, अत एव वे चारित्र रूप होने से धर्म रूप हैं। मुनि समस्त जीवो को अभयदान करते हैं तथा स्तुति, वन्दना रूप प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं। गृहस्थ भी अपने दैनिक षट् कर्म रूप में दान और पूजा करते हैं।

अत एव दान करना, पूजा करना तथा समिति आदि शुभ प्रवृत्ति धर्म रूप हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने रयणसार ग्रन्थ मे स्पष्ट लिखा है—

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ॥११॥

अर्थ—श्रावक के धर्म मे दान करना और पूजा करना मुख्य धर्म है। दान और पूजा बिना श्रावक धर्म नही है।

पूयफलेण तिलोके सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं।१४।

अर्थात् पूजा के फल से अरहत होता है और दान देने से मोक्ष सुख मिलता है।

अत. दान या पूजा आदि सम्यग्दृष्टि के शुभ कार्यों को धर्म न मानना सोनगढ साहित्य की आगम-विरुद्ध मान्यता है।

दान करते समय धन की मोह ममता छूटती है उस विरक्त परिणाम से कर्मों का सवर तथा निर्जरा होती है। पूजा करते समय कुदेव-श्रद्धा तथा अन्य पाप प्रवृत्ति के त्याग-मय भावो से अनेक कर्मों का सवर एव निजरा होती है। तथा च-प्रशस्त राग से शुभ कर्म-बन्ध भी होता है। इस तरह संवर और निर्जरा का भी कारण होने से दान और पूजा आदि शुभ कार्य धर्म रूप हैं।

इन शुभ भावो को (ज्ञानदान, अभयदान तथा पूजा, स्तुति आदि को) श्री कहान जी स्वामी भी करते हैं, फिर वे पुण्य को त्याज्य क्यो लिखते हैं और क्यो करते हैं ?

आधार

लेखक ने सोनागढ साहित्य की गलत बात का समर्थन करने के लिये समयसार के आस्रव बन्ध अधिकार के तथा मोक्ष मार्ग प्रकाशक के आधार दिये हैं, वे उल्लेख अहकार व अध्यवसाय की मुख्यता से हैं। सम्यक्त्व और चारित्र के अश द्वारा होने वाले कर्मसवर और कर्मनिर्जरा का वहाँ पर प्रकरण नही है। अतः उन आधारो से सोनगढ़-साहित्य की एकपक्षी एकात मान्यता का समर्थन नही होता।

समयसार के निर्जरा अधिकार मे सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के कारण कहे गये हैं। फिर दान पूजा व्रत निर्जरा के कारण क्यो नही होगे ? अवश्य होगे।

जिन आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार का आस्रव बन्ध-अधिकार लिखा है, उन ही आचार्य कुन्दकुन्द ने रयणसार ग्रन्थ भी लिखा है,

चारित्र पाहुड, भाव पाहुड भी लिखा है, वहाँ उन्होने दान पूजा आदि शुभ भावो को 'धर्म' कहा है तथा सवर, निर्जरा, मोक्ष का कारण कहा है।

बुद्धिमान सिद्धान्त ज्ञाता को दोनो नयो की मध्यस्थता से विचार करना चाहिये। निश्चयनय का एकान्ती भी मिथ्यादृष्टि होता है।

श्री प० टोडरमल जी मोक्ष मार्ग प्रकाशक मे सम्यग्दर्शन का भी पूरा कथन नही कर पाये, सम्यक् चारित्र पर उन्हे मोक्षमार्गप्रकाशक मे लिखने का अवसर ही न मिल पाया। यदि वे सम्यक् चारित्र का प्रकरण भी लिखते तो दान पूजा आदि चारित्र द्वारा होने वाले कर्म-सवर और कर्म-निर्जरा का भी विस्तृत विवेचन अवश्य करते। क्योकि वे पांचवें छठे गुणस्थान मे चारित्र से होने वाले संवर और निर्जरा के भी अच्छे जानकार थे। उन्होंने उस गोम्मटसार ग्रन्थ की विशाल टीका की है जिसमे सराग सम्यक्त्व, सराग चारित्र द्वारा गृहस्थ श्रावक तथा मुनि के अनेक कर्मों का संवर और अनेक कर्मो की प्रतिसमय निर्जरा होने का स्पष्ट विवेचन है।

सातवीं वार्ता

जिनवाणी एवं परस्त्री

माता के द्वारा जिस प्रकार वच्चे का पालन पोषण, सरक्षण होता है, इसी तरह जिन-वाणी से ससारी जीव का दुख सन्ताप से सरक्षण होता है, और परम्परा से उसे मुक्ति प्राप्त होती है। अत ग्रन्थकारो ने जिनवाणी को 'माता' शब्द से भी सम्बोधन किया है।

परन्तु सोनगढ साहित्य के 'मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण' नामक पुस्तक के प्रथम भाग के तीसरे अध्याय के ८० वें पृष्ठ पर उस जिन-वाणी को पर-स्त्री की हीन-उपमा दी है या पर-स्त्री से जिनवाणी की तुलना की है-वहा लिखा है—

"श्री वीतराग की वाणी श्रवण भी पर-विषय है और स्त्री भी पर विषय है। ज्ञानी के किसी भी पर विषय की रुचि नहीं है। वीतराग की वाणी के श्रवण की भी भावना ज्ञानी के नहीं है।......अज्ञानी जीव स्त्री को बुरा और भगवान की वाणी को अच्छा मान कर पर विषय में भेद करता है।"

इसी वाक्य का सक्षिप्त अश शास्त्रि-परिषद के प्रस्ताव मे दिया गया है।

श्री प० वशीधर जी ने इस बात को उडाने के लिये अपने ट्रैक्ट मे मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण भाग २ के पृष्ठ ६४ का अन्य पैरेग्राफ लिख दिया है। और लिखा है कि—

"मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण भाग १ तथा २ के उपरोक्त किसी भी पृष्ठ पर कहीं भी ऐसा कथन नहीं है।"

पं० वशीधर जी ने ऐसा क्यो किया है, इसको वे स्वयं जानें।

सोनगढ के नेता पर-पदार्थ से इतने भयभीत हैं कि हितकारी पर-पदार्थ से भी लाभ लेना उन्हे उचित प्रतीत नहीं होता, इसी कारण वे

आदरणीय पर-पदार्थ को भी दुत्कारते समय औचित्य को भूल जाते हैं। आत्मशुद्धि के कारणभूत सम्यग्दृष्टि के पुण्य को विष्ठा कह कर त्याज्य बताया तो आत्मा के लिए परम हितकारी जिनवाणी को भी पर-स्त्री समान त्याज्य बता दिया।

जबकि समवशरण मे असंख्य जनता, हजारो महान ज्ञानी ऋषि मुनि, चार ज्ञानधारी गणधर, अवधिज्ञानी मुनि जिनवाणी को सुनने के लिये एकत्र होते हैं, बड़ी रुचि से उसे सुनते हैं, उसे सुनकर अपना मोहान्धकार तथा अज्ञानान्धकार दूर करते हैं, बोध प्राप्त करके आत्म-ध्यान करते हैं, बहुत से मुनि शुक्ल-ध्यान प्राप्त करके समवशरण में ही केवल ज्ञानी होकर मुक्त भी हो जाते हैं।

उस जिनवाणी को सोनगढ का साहित्य पर-स्त्री की उपमा देता है, त्याज्य बतलाता है तथा कहता है कि 'ज्ञानी के वीतराग की वाणी श्रवण करने की भी भावना नही होती।' ऐसा ज्ञानी सभवतः चार ज्ञानधारी गणधर से भी उच्च ज्ञानी होगा ! यदि उस ज्ञानी का नाम बता दिया जाता तो ठीक होता।

केवल ज्ञान होने से पहले सम्यग्ज्ञानी मनुष्य भी ज्ञानावरण कर्म के उदय मे 'अज्ञानी' (अल्प-ज्ञानी) होता है, अतः उसको अपना ज्ञान बढाने की प्रबल उत्सुकता रहती है। इसलिये कहा जाने वाला ज्ञानी तो जिनवाणी सुनने का इच्छुक अवश्य होता है।

हां, जो व्यक्ति मरीचिकुमार सरीखे अभिमानी, अभागे और मिथ्या-ज्ञानी होते हैं, उन्हे जिनवाणी सुनने की इच्छा नही होती। क्योंकि मनुष्य के जब कान हैं तब उन कानो से कुछ न कुछ सुनना तो होगा ही। फिर जिनवाणी से भी और अधिक अच्छी कौन सी वाणी है, जिसे जिनवाणी को छोडकर, ज्ञानी सुनने की इच्छा करे।

भगवान महावीर के मुक्त हो जाने पर तथा अन्तिम केवली श्रीधर के मुक्त हो जाने पर सैकड़ो वर्ष तक जो जिनवाणी मौखिक पठनपाठन

से गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा चलती रही, वे पढने पढाने वाले ऋषि महर्षि महान ज्ञानी ही थे, उन्होने उत्कृट इच्छा से ही जिनवाणी का श्रवण एव अवधारण किया। तदनन्तर जब शास्त्र-रचना की पद्धति प्रचलित हुई तब भी ज्ञानी आचार्य, मुनि गुरु-शिष्य परम्परा से जिन-वाणी को इच्छापूर्वक पढते पढाते रहे। जिनवाणी को चिरस्थायी रखने के लिये उस जिनवाणी को शास्त्र निबद्ध करते रहे। इसी का यह मधुर फल है कि ढाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी भगवान महावीर की जिनवाणी आज भी उपलब्ध है।

जिस समयसार के अध्ययन से श्री कहान जी स्वामी अपना उद्धार होना अनुभव करते हैं वह जिनवाणी रूप समयसार सुनने पढने की इच्छा भी ज्ञानियो को ही होती है। अत. श्री कहान जी स्वामी अपनी पूर्वोक्त गलत बात का स्वय अनुभव करें।

श्री आ० पद्मनन्दि पर्चाविशति ग्रन्थ के ७७६ वें श्लोक में जिन-वाणी को माता के रूप मे स्मरण करते हुए लिखते हैं—

विधाय मातः प्रथमं त्वदाश्रयं, श्रयन्ति तन्मोक्षपदं महर्षयः।
प्रदीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते, यदीप्सितं वस्तु लभते हि मानवः।

अर्थ—हे जिनवाणी माता! महान ऋषिगण पहले तेरा आश्रय लेकर ही मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। जैसे कि अन्धेरे घर में मनुष्य दीपक का आश्रय लेकर अभीष्ट वस्तु को पा लेता है।

ऐसी परमपूज्य जग-माता जिनवाणी को पर-स्त्री की उपमा देना तथा ज्ञानियो द्वारा जिनवाणी सुनने की भावना न बतलाना कितना अनुचित है, इस बात का अनुभव सोनगढ के नेता स्वय करें।

आगे श्री पद्मनन्दि आचार्य श्लोक ८०१ मे कहते हैं—

यथाविधानं त्वमनुस्मृता सती, गुरूपदेशोयमवर्णभेदतः।
न ताः श्रियस्ते न गुणा न तत्पदं प्रयच्छसि प्राणभृते न यच्छुभे।

हे जिनवाणी माता ! तेरा यथाविधि मनन पठन स्मरण करने पर ऐसी कोई सम्पदा नही, ऐसा कोई गुण नही, ऐसा कोई पद नही जिसको तू प्रदान न करती हो। यानी—जिनवाणीके स्मरणसे स्वर्ग मोक्ष पद प्राप्त होते हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य नियमसार ग्रन्थ की 'सम्मत्तस्स णिमित्त जिणसुत्त' आदि ५३ वी गाथा द्वारा सम्यग्दर्शन के प्रगट होने का बाहरी निमित्त कारण जिनवाणी को बतलाते हैं।

ये ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य प्रवचनसार में कहते हैं—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो, तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥८६॥

अर्थ—जिनवाणी से प्रत्यक्षादि प्रमाणो द्वारा पदार्थ को जानने वाले ज्ञानी के नियम से मोह का समूह क्षय हो जाता है, इस कारण शास्त्र का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिये।

श्री वीरसेन आचार्य धवल सिद्धान्त में लिखते हैं—

ससारविच्छत्तेः किं कारणम् ? द्वादशाङ्गावगमः तत्तीव्रभक्ति केवलिसमुद्घातोऽनिवृत्तिपरिणामश्च ।
प्रथम पुस्तक, पृष्ठ ॥३०२॥

(अर्थ) प्रश्न—संसार के नाश करने का क्या कारण है ?

उत्तर—द्वादशाग वाणी का ज्ञान, जिन-वाणी की भक्ति, केवली समुद्घात और अनिवृत रूप परिणाम, ये सब ससार के क्षय होने के कारण हैं।

इसी प्रकार अन्यान्य ग्रन्थकारो ने भी जिनवाणी की भक्ति करने को तथा अध्ययन करने को कर्म क्षय का एव समस्त कल्याण प्राप्त करने का साधन बताया है।

भाषा कवियो ने भी—

जिनवाणी माता ! दर्शन की बलिहारी ।
हरो दुख माता भ्रमण का ।

आदि कविताओ द्वारा जिनवाणी को परम पवित्र पूज्य माता के रूप मे स्मरण किया है ।

उस जिन-वाणी को पर-विषय बताने के लिये स्त्री की उपमा देना और उसे ज्ञानी द्वारा सुनने की भावना न बतलाना सोनगढ साहित्य की अनुचित और अहितकारिणी बात है ।

आधार

अपनी अनुचित गलत बात का समर्थन करने के लिये लेखक ने दो आधार दिये हैं ।

१—पद्मनंदि-पचविंशति का । २—मोक्षमार्ग प्रकाशक का । सो मोक्ष-मार्ग प्रकाशक मे पद्मनन्दि पचविंशति के कथन का ही अभिप्राय दिया है, अतः उसे पद्मनन्दि पचविंशति का ही आधार समझना चाहिये ।

पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ के रचयिता श्री पद्मनन्दि आचार्य ने उसी ग्रन्थ के श्लोक ७७९-८०१ आदि में जिनवाणी माता को कितने आदर के साथ स्मरण किया है, उस पर प० वशीधर जी दृष्टिपात करें और अपनी गलती का अनुभव करने का प्रयास करें ।

श्री पद्मनन्दि आचार्य ने जिनवाणी के लिए अपशब्द का प्रयोग नही किया है ।

आठवीं वार्ता

हिंसा करते हुए पुण्य या पाप

आत्मा के भाव तीन प्रकार के होते है—१ अशुभ २ शुभ और ३ शुद्ध। आर्तध्यान (दुख-शोक-चिन्तामय, रोगग्रस्तभाव) और रौद्रध्यान (तीव्रक्रोध, लोभ, अभिमान मायाचार एव निर्दयता, हिंसा, असत्य, धोखाधडी, चोरी डकैती बलात्कार व्यभिचार परिग्रहानंद के परिणाम) अशुभ परिणति के भाव हैं। इन परिणामो से असाता वेदनीय, नरक-आयु, नरकगति आदि अशुभ कर्मों का आस्रव, बन्ध होता है।

सराग सम्यक्त्व, सराग चारित्र (अणुव्रत, दया, दान, पूजा, परोपकार, धर्मध्यान आदि स्व-पर-हितकारी कार्य करना, सद्भावना के परिणाम शुभ भाव होते हैं। शुभ भावो से सुख सुविधा-जनक शुभ कर्मों का बन्ध होता है। तथा कर्मों का संवर और निर्जरा भी होती है जो कि परम्परा से मुक्ति के कारण है। धर्मध्यान शुभभावमय होता है।

व्यक्त राग की अपेक्षा सातवें गुणस्थान से ऊपर के तथा अव्यक्त राग की अपेक्षा दशवें गुणस्थान से ऊपर के रागद्वेष रहित शुद्ध परिणाम शुद्ध भाव होते हैं। शुद्ध-भाव मुक्ति के कारण हैं।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भावपाहुड़ मे कहा है कि—

भाव तिविह पयारं, सुह असुह सुद्धमेव तहा।
असुह च अट्टरुद्दं, सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं।।७६।।
सुद्धं सुद्धसहावं……७७

अर्थ—आत्मा के भाव तीन प्रकार के होते हैं अशुभ, शुभ और शुद्ध। आर्तध्यान रौद्रध्यान के परिणाम अशुभ होते हैं। धर्मध्यान के परिणाम शुभ रूप होते हैं।

शुभ अशुभ भावो से रहित शुद्धस्वभाव रूप परिणाम शुद्ध होते हैं।

इन मे से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य सन्तोष, दया, परोपकार, सदाचार के भाव अभव्य जीव के तथा भव्य मिथ्या-दृष्टि के भी होते हैं। मिथ्या दृष्टि द्रव्य लिङ्गी मुनि भी वाह्य रूप से महाव्रत, समिति आदि चारित्र का आचरण करते हैं, जो मात्र पुण्य बंध के कारण हैं। अत. उनके परिणाम भी शुभ कहे जा सकते हैं। परन्तु असत्श्रद्धा (मिथ्यात्व) होने के कारण वे शुभ परिणाम ससार-भ्रमण के ही कारण होते हैं, मुक्ति के कारण नहीं होते। इस लिये वे परमार्थ से अशुद्ध हैं। (प्रवचनसार गाथा ६ पर श्री जयसेन आचार्य की टीका।)

निदान-रहित सम्यग्दृष्टि के शुभ भाव (पुण्य) मोक्ष के कारण होते हैं क्योकि उन भावो से सवर निर्जरा भी होती रहती है।

इसी कारण भाव सग्रह ग्रन्थ में श्री देवसेन आचार्य ने कहा है—

सम्मादिट्ठी पुण्ण ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेऊ, जइवि णियाण ण सो कुणई ॥४०२॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि का पुण्यभाव नियम से ससार का कारण नही होता। यदि सम्यक्दृष्टि निदान (आगामी सासारिक भोगो की इच्छा) न करे तो उसका पुण्यभाव मोक्ष का कारण होता है।

गाय, हरिण, बकरा, मुर्गी, भैसा आदि, पशु पक्षियों का छुरी, तलवार आदि से वध करते समय निर्दय तीव्र कषाय रूप अशुभ भाव होते हैं। उस क्रूर दुष्ट हिंसक परिणाम से नरकगति का कारण; अशुभ कर्म का बन्ध होता है।

किन्तु सोनगढ से प्रकाशित 'मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण' पुस्तक के अ० ३, पृ० १२२ पर लिखा है—

'हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प पुण्य बन्ध होता है।'

यह बात जैन आगम के विरुद्ध है। क्योंकि हिंसा सब पापो मे मुख्य

है। बकरी, गाय, मुर्गी आदि की हिंसा करते समय तीव्र संक्लेश रूप दुष्ट परिणाम होते हैं, निर्दय तीव्र क्रोध आदि कषाय हिंसा करते समय होती है, अतः उन तीव्र सक्लेश परिणामों से कसाई के पाप कर्म का वन्ध होता है।

पुण्य-वध मन्द कषायो से होता है, जो कि निर्दयता से जीवों का कत्ल करने वाले कसाई के जीवो का कत्ल करते समय होते नहीं हैं।

श्री पूज्यपाद आचार्य सर्वार्थसिद्धि (भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित) अध्याय ६ सूत्र १५ की व्याख्या मे ३३३ वें पृष्ठ पर लिखते है—

"हिंसादिक्रूरकर्माजस्रप्रवर्तनपरस्वहरणविषयातिगृद्धिकृष्ण-लेश्याभिजातरौद्रध्यानमरणकालतादिलक्षणो नारकस्यायुष आस्रवो भवति।"

अर्थ—हिंसा आदि क्रूर (निर्दय दुष्ट) कार्यों मे निरन्तर प्रवृत्ति रखना, अन्य व्यक्ति का धन-अपहरण करना, विषय भोगो की अत्यन्त लोलुपता कृष्ण लेश्या से उत्पन्न रौद्रध्यान से मरण आदि नरक आयु के आस्रव के कारण हैं।

इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी निर्दय हिंसाकृत्य को नरक आयु आदि अशुभ कर्म-बन्ध का कारण बताया है। किसी भी ग्रन्थकार ने कत्ल करते समय कसाई को पुण्य-बन्ध होना नहीं बतलाया।

भ्रम का कारण

श्री कहान जी स्वामी निम्नलिखित दो भ्रमो के कारण, पशुओं का कत्ल करते हुए भी कसाई के पुण्यबन्ध होना बतलाते हैं—

१—शरीर, अगुरुलघु, निर्माण ये ध्रुवबन्धी पुण्य प्रकृति हैं। इन प्रकृतियो का बन्ध प्रतिसमय हुआ करता है। जैसे ये प्रकृतियाँ शुभ योग के समय बंधती हैं इसी तरह अशुभ योग के समय भी बंधती हैं। इन ध्रुवबन्धी पुण्य प्रकृतियों के कारण श्री कहान जी स्वामी कसाई के पशुवध करते समय पुण्यबन्ध होना समझते हैं।

नरकगति के साथ पचेन्द्रिय जाति, त्रस, पर्याप्त, परघात आदि कुछ पुण्य प्रकृतियो का सन्निकर्ष है, अतः ये भी बधती हैं।

२—मन्दकषाय से आप चैतन्य (ज्ञान दर्शन) का विकास समझते हैं, जैसा कि आपने लिखा है—"निगोद जीव को भी अमुक मद कषाय तो होती ही है। उसके जो चैतन्य का विकास है वह मद कषाय का फल है। यदि कषाय रूप पुण्य सर्वथा न हो (एकान्त पाप ही हो) तो चैतन्य नही रह सकता। और वर्तमान मे चैतन्य का जितना विकास है वह वन्ध का कारण नही होता।"

ध्रुवबन्धी पुण्य प्रकृतियो का बन्ध कर्मसिद्धान्त के अनुसार प्रति-समय अवश्य हुआ करता है। इसी कारण उनको 'ध्रुवबन्धी' कहते हैं। इन पुण्य प्रकृतियो के बन्ध होने मे शुभ या अशुभ भाव कारण नही होते।

चैतन्य के विकास या आवरण का कारण न तो कषाय की मदता (पुण्य भाव) है और न कषाय की तीव्रता (सक्लेश रूप पाप) है। चैतन्य का विकास तो ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के विशेष क्षयोपशम पर आधारित है।

अतएव कृष्ण-लेश्या-वाले तीव्र कषाय-युक्त सप्तम नरक के नारकी के भी अवधि ज्ञान होता है। तथा कषाय भाव का पूर्ण क्षय करने वाले ११ वें, १२ वें गुणस्थानवर्ती अनेक वीतराग मुनियों के अवधि ज्ञान नहीं भी होता।

चैतन्य आत्मा का जीवनत्व रूप पारिणामिक भाव है, उसका अभाव कभी हो नही सकता। चाहे कषाय की तीव्रता (पाप) चरम सीमा पर हो, तब भी चैतन्य का अस्तित्व मिट नही सकता।

अत इन दोनो भ्रान्तियो के कारण जीव-वध करते हुए कसाई के पुण्यबन्ध समझना या कहना गलत है।

"शुभ योग के समय भी ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्मों का बन्ध होने के कारण शुभ योग को पुण्य कर्म-आस्रव का कारण क्यों माना जावे ?" यह शका, सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक मे छठे अध्याय के तीसरे सूत्र "शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" की व्याख्या में शकाकारने की है । इसके उत्तर मे ग्रन्थकार ने यह समाधान किया है कि—

योगो की शुभता या अशुभता, शुभकर्म-बन्ध या अशुभकर्मबन्ध पर आधारित नही है । योगों की शुभता, अशुभता, शुभ-अशुभ भावों पर आधारित है । अतः शुभ भावों से जो योग होता है वह शुभयोग है और अशुभ भावो से होने वाला योग अशुभ योग है ।

तथा—पुण्य कर्म का आस्रव बन्ध केवल शुभयोग से ही होता है ।

श्री कहान जी स्वामी को इस आर्ष-कथन पर दृष्टिपात करना चाहिये ।

जीवों के कत्ल करते समय कसाई के जब शुभयोग होता ही नही है, उसके उस समय अशुभ योग ही होता है, तब उसके पुण्य-बन्ध बतलाना आगम-विरुद्ध है । उस कत्ल करते समय भी उसके ध्रुवबन्धी पुण्य प्रकृतियों का आस्रव उसके हिंसक परिणामों के कारण नही होता । उसका कारण उन कर्म-प्रकृतियों की स्वाभाविक ध्रुव-बन्धता है ।

पुण्य और पाप एक समान नही हैं, उनमे महान अन्तर है ।

सराग सम्यक्त्व भी पुण्य भाव है और सराग चारित्र भी पुण्यभाव है, धर्मध्यान भी पुण्यभाव है । ये पुण्य भाव ससार-भ्रमण के कारण नही हैं, परम्परा से मुक्ति के कारण हैं । जब कि पापभाव मुक्ति का कारण नही होता, संसार का ही कारण होता है ।

अतएव पाप रूप प्रथम गुणस्थान में केवल कर्मों का आस्रव, बन्ध ही होता है, संवर और निर्जरा (अविपाक) नही होती । मिथ्यात्व के कारण

मिथ्यादृष्टि का पुण्य निरा कर्म-बन्ध होने के कारण वास्तव में पाप रूप ही माना गया है।

पुण्य भाव वास्तव में प्रशस्त रागभाव के कारण चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक (व्यक्त राग भाव की अपेक्षा) और दसवें गुणस्थान तक (अव्यक्त राग की अपेक्षा) माना गया है, वहां पर कर्मो का संवर और निर्जरा दोनो होते हैं।

अतएव पुण्य और पाप को कसाई का दृष्टान्त देकर एक समान बतलाने की चेष्टा करना उचित नही है।

यदि जीव-हिंसा और अहिंसा को एक समान मान लिया जावे तो सयम और असयम मे कुछ अन्तर ही न रहेगा।

उपदेष्टा को यह ध्यान रखना अति आवश्यक है कि वह सिद्धान्त से अनभिज्ञ साधारण जनता के समक्ष कोई ऐसी बात न कहे जिसका अर्थ श्रोता विपरीत भी समझ लें।

जैसे यह कह दिया जावे कि—

"खाना पीना और मैथुन सेवन शरीर की जड-क्रिया है। आत्मा शरीर से भिन्न है। शरीर जड है, आत्मा चेतन है। अतः आत्मा न खाता पीता है और न विषय-भोग यानी—काम-सेवन करता है। यह काम तो जड शरीर ही करता है।"

इस उपदेश का अर्थ मद्यपायी, मांस-भक्षी, कामातुर व्यभिचारी पापी लोग अपने यथेष्ट विषय-पोषण, दुराचार-सेवन-परक भी निकालते हैं और मद्यपान, वेश्यागमन करते हुए भी आत्मा को उससे अलिप्त मानते हैं।

इसी तरह जीवो का कत्ल करते समय कसाई के पुण्य-बध होना, सोनगढ साहित्य द्वारा बतलाने का अनर्थरूपी दुष्परिणाम जनसाधारण के मानस पर अकित हो सकता है।

इस पर सोनगढ के नेताओ का ध्यान केन्द्रित होना आवश्यक है।

नौवीं वार्ता

मुनि का लक्षण

श्री समन्तभद्राचार्य ने धर्मगुरु का लक्षण-निर्देश करते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥१०॥

अर्थ—जो महान् व्यक्ति पांचो इन्द्रियो के विषय-भोगो से अतीत है (विषयभोगो का परित्यागी है), गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी समस्त आरम्भो और परिग्रहो का त्यागी है तथा जो ज्ञान-आराधना और अन्तरग तपश्चरण करने मे लीन रहता है, वह महाव्रतधारी तपस्वी प्रशसनीय है।

खेद है कि ऐसे नग्न दिगम्बर तपस्वी की निन्दा विविध प्रकार से सोनगढ साहित्य करता है। दिगम्बर मुनि बनना इस कलिकाल मे कितना दुर्लभ है, इस विषय पर श्री सोमदेव सूरि उपासकाध्ययन मे कहते हैं—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके ।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥७९६॥

अर्थ—इस कलिकाल में मनुष्य का मन सदा विषयभोगो मे चचल बना रहता है और यह शरीर खाने-पीने का कीड़ा बन गया है, ऐसे कलिकाल मे भी जिनेन्द्र-मुद्रा को धारण करने वाले दिगम्बर मुनि पाये जाते है, यह महान् आश्चर्य की बात है।

सम्यग्दृष्टि धार्मिक व्यक्ति को इस सर्वोच्च साधुता की प्रतीक जिनेन्द्र-मुद्रा (जिनेन्द्र भगवान की छाप) का विशेष से आदर करना

चाहिये। ऐसा न करके जो व्यक्ति उनकी निन्दा करते हैं, वे स्वय आत्म-निरीक्षण करें कि क्या यह सम्यक्त्व का चिन्ह है ?

कोई अभव्य तथा भव्य मुनि द्रव्यलिंगी भी होते हैं, जिनका बाहरी रूप नग्न दिगम्बर होता है परन्तु उस महाव्रती आचरण के अनुसार उनका अन्तरग चारित्र नहीं होता। इसमें प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय मुख्य कारण होता है। परन्तु उस कर्म-उदय पर उस द्रव्य-लिंगी मुनि का कुछ वश नहीं चल सकता। वह तो कर्म-क्षय करने के लिए ही शारीरिक मोह तथा सासारिक विषय-वासनाओ को छोडकर मुनिचर्या करता है, ऐसा करना ही उसके अपने वश की बात है, अतः उसके स्व-वश आचरण में प्राय कमी नही होती। यदि कर्म-उदय-वश उसके अन्तरग चारित्र में कुछ कमी है तो उस पर उसका वश नहीं।

भगवान आदिनाथ एक हजार वर्ष तक नग्न दिगम्बर रूप में तपश्चरण करते रहे किन्तु उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती अन्तर्मुहूर्त तक ही (मुनि दीक्षा लेकर आत्म-ध्यान प्रारम्भ करने तक ही) तपस्वी बने। जो अर्हन्त-पद भगवान आदिनाथ को एक हजार वर्ष तपश्चरण करने के बाद मिला, वह अर्हन्त-पद भरत चक्रवर्ती को एक घण्टे के भीतर ही मिल गया। इसलिए मुनि का द्रव्यलिंग उसके अपने अधीन होता है, भावलिंग उसके अपने अधीन नही होता।

द्रव्यलिंग भावलिंग

मुनियो का नग्न दिगम्बर रूप **द्रव्यलिंग** कहलाता है और प्रत्याख्या-नावरण कषाय के क्षयोपशम से छठे सातवें आदि गुणस्थान-वाली आत्म-शुद्धि होना मुनि का **भावलिंग** है। तदनुसार द्रव्यलिंगी मुनि मिथ्या-दृष्टि ही होते हो, सर्वथा ऐसी बात नही है। अनन्तानुबन्धी कषाय के अनुदय वाले तथा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय-उदय वाले यानी-अन्तरग से असयत सम्यग्दृष्टि भी द्रव्यलिंगी मुनि होते हैं। एव अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानावरण के अनुदय (क्षयोपशम) वाले

किन्तु प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय वाले यानी—अन्तरग में सम्यग्दृष्टि श्रावक के (पंचम गुणस्थान के) भावधारी दिगम्बर मुनि भी द्रव्यलिंगी हुआ करते हैं। यह अन्तरंग परिणामों की विचित्रता है। इस पर उस मुनि का वश नही चलता।

परन्तु इतनी बात अवश्य है कि मति श्रुतज्ञानी व्यक्ति किसी मुनि के भावलिंग को अपने ज्ञान से नही जान सकता। भावलिंग तो प्रत्यक्ष यानी—केवलज्ञान आदि दिव्यज्ञान-गम्य है, मतिज्ञान श्रुतज्ञान से नही जाना जा सकता। अत: श्री कहान जी स्वामी या उनके अनुयायी किसी भी मुनि के विषय मे यह नही बतला सकते हैं कि "यह द्रव्यलिंगी है, भावलिंगी नही है।"

ऐसा स्पष्ट न जानते हुए भी मुनि के द्रव्यलिंग की अवहेलना करना, आदर सत्कार, विनय, प्रणाम आदि न करना, निन्दा करना गुरु-श्रद्धा या सम्यग्दर्शन का चिन्ह नहीं है।

प्रकरण न होते हुए भी श्री कहान जी स्वामी ने समयसार-प्रवचन में जो दिगम्बर मुनि की अनुचित आलोचना की है, इसके स्थान पर यदि वे स्वय भावलिंगी मुनि बन कर आदर्श उपस्थित करते तो युक्ति-युक्त ठीक होता और तब उनके वचन में कुछ सार और बल होता।

स्वयं मुनिपद प्राप्त करने में असमर्थ होकर उस महान पद-धारी साधु की निन्दा करना अनुचित बात है, पुष्पडाल मुनि वर्षों तक मात्र द्रव्यलिंगी मुनि बने रहे। इसी प्रकार भवदेव भी वर्षों तक द्रव्यलिंगी मुनि बने रहे, किन्तु संघ में रहे और सघ के भावलिंगी मुनि उनको नमोस्तु आदि करके मुनि का व्यवहार करते थे, श्रावक उन्हे नवधा भक्ति-पूर्वक आहार देते थे, किसी ने भी उनकी निन्दा नही की।

जड़-क्रिया

शास्त्रि परिषद् के प्रस्ताव मे जो नौवी बात है, वह श्री कहान जी स्वामी ने अपनी पुस्तक मोक्ष-मार्ग की किरण के सातवें अध्याय पृष्ठ १८० पर यों लिखी है—

"दूसरों को उपदेश देना मुनि का लक्षण नहीं है, उपदेश तो जड़ क्रिया है।"

श्री कहान जी स्वामी की इस गलत बात का समर्थन, बिना किसी युक्ति को उपस्थित किये श्री प० वशीधर जी ने ट्रैक्ट के पृष्ठ २८-२९ पर किया है जिसमे केवल मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण का प्रकाशित मैटर उद्धृत कर दिया है। अस्तु।

यहा पर विचारणीय बात यह है कि "किसी भी संसारी जीव की कोई भी क्रिया बिना शरीर का (जिसमे कि बोलने के अग जीभ, ओठ, कठ, तालु, दात तथा विचार करने के अग द्रव्यमन, मस्तिष्क भी सम्मिलित हैं) सहारा लिये क्या स्वाधीन भी है?"

ससारी जीव का जीवन भी जड द्रव्य रूप आयुकर्म के उदय-अधीन एवं साँस, वायु, जल, भोजन, शरीर, इन्द्रिय (द्रव्य इन्द्रिय), द्रव्य-मन, वचन के आश्रित है। जिस समय तक इन जड़ पदार्थों का आश्रय संसारी जीव को मिलता है, तब तक वह जीता है, जिस क्षण इन जड पदार्थों का आश्रय छूट जाता है उसी समय जीव की अनचाही मृत्यु हो जाती है। जीवन-मरण की इस प्रक्रिया से सभी छोटे-बडे, ज्ञानी-अज्ञानी, सोनगढ के साहित्यकार तथा उनके समर्थक सुपरिचित हैं। वे परिचित ही नही हैं अपितु उनकी भी समस्त जीवन-प्रक्रिया जड-द्रव्याश्रित अनुभूत भी है। वे कहने को तो द्विक्रियावाद आदि की बात लिखकर कुछ भी कह लें परन्तु वे स्वय उस द्विक्रियावाद से क्रियात्मक रूप मे एक क्षण भी छूट नही सकते। अत. यह बात कहना और लिखना निःसार है, जिसे करके वे एक दिन भी दिखा नही सकते।

यह बात ठीक है कि ससारी जीव का शरीर पौद्गलिक है, जड और आत्मा अमूर्तिक चैतन्य-मूर्ति है। यह भी ठीक है कि प्रत्येक द्रव्य अपनी ही क्रिया कर सकता है, अन्य द्रव्य की क्रिया नही कर सकता परन्तु इसके साथ ही विचारणीय यह बात भी है कि मूर्तिक (कार्माण द्रव्य) और अमूर्तिक (आत्म द्रव्य) का परस्पर अनादिकालीन बन्ध है।

इस असंभव-से प्रतीत होने वाले जड और चेतन द्रव्य के पारस्परिक वन्ध के कारण न तो स्वतन्त्र अकेला जीव कुछ कार्य कर सकता है और न जीव-वद्ध पुद्गल स्वतत्र अकेला कोई कार्य कर सकता है।

जिस तरह साईकल को साईकल-सवार चलाता है और साईकल अपने सवार मनुष्य को कही से कही पहुँचा देती है, यानी चलाती है। विना सवार की प्रेरणा के साईकल नही चल सकती और विना साईकल के उसका सवार उतनी सुविधा तथा तेजी से यात्रा नही कर सकता, ससारी जीव और उससे सम्वद्ध जड पुद्गल की भी ऐसी ही वात है।

जीव की इच्छा और प्रेरणा होती है तव पौद्गलिक पर जीव को चला कर कही का कही पहुँचा देते है। यदि पैर टूट जाते हैं तो जीव जहाँ का तहाँ पडा रहता है। जीव अपने शारीरिक हाथों को जव प्रेरणा करता है तव ही वे हाथ लिखना, उठाना, धरना आदि कार्य करते हैं। किन्तु यदि हाथो को लकवा मार जावे तो वे ही हाथ जीव की इच्छा होते हुए भी कुछ काम नही कर सकते। इसी तरह आत्मा की जव प्रेरणा होती है, तभी मुख, जीभ द्वारा शब्द-वर्गणाएँ भाषा रूप परिणत होती हैं। यदि कण्ठ, जीभ, मुख पक्षाघात (लकवा) से अथवा अन्य किसी कारण से क्रियाहीन हो जावे तो चाहता हुआ भी आत्मा अपने भाव को शब्दो द्वारा प्रगट नही कर सकना।

इस तरह चलना, फिरना, लिखना, करना, धरना, वोलना चालना आदि शारीरिक कार्य आत्मा और शरीर की मिश्रित साझेदारी से हुआ करते है। अतएव न तो ये कोरे अकेले आत्मा के कार्य हैं और न यह केवल शरीर की जडक्रिया है।

निर्जीव (मुर्दा) शरीर की किसी क्रिया को तो जटक्रिया कहा जा सकता है परन्तु जीवित (सजीव) शरीर की क्रिया को जडक्रिया कहना बज्रभूल है। जड शरीर तो एक शब्द भी नही वोल सकता।

जड शरीर को तो अग्नि पर रख दिया जाता है फिर भी वह एक शब्द तक मुख से नही निकालता, जब कि सजीव शरीर एक चिनगारी के छूते ही चीखने लगता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य का अभिमत

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय का प्रारम्भ करते हुए इसी जड शब्दात्मक श्रुत को शिर झुका कर नमस्कार किया है—

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिणिवारण सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा समयमिमं सुणह वोच्छामि ॥२॥

अर्थ – महान श्रमण भगवान महावीर के मुख से निकले हुए अर्थ-मय, चतुर्गति ससार को नष्ट करने वाले, मोक्ष प्रगट करने वाले, इस समय को मैं शिर झुका कर प्रणाम करके इस पचास्तिकाय समयसार को कहता हूं, सो सुनो।

श्री कहान जी स्वामी तो कहते हैं कि—

"दूसरो को उपदेश देना मुनि का लक्षण नही, उपदेश तो जड़-क्रिया है।"

किन्तु पचास्तिकाय के मगलाचरण मे श्री कुन्दकुन्द स्वामी सबसे बडे मुनि, सर्वज्ञ, पूर्ण वीतराग भगवान महावीर को उपदेश-दाता लिख रहे हैं, उस जड उपदेश को चारो गति के भ्रमण का नाशक तथा निर्वाणदाता बतला रहे हैं, वे उस उपदेश (द्रव्य श्रुत) को शिर झुका कर नमस्कार कर रहे हैं। एव स्वय भी उस जडक्रिया के कर्ता बन कर पचास्तिकाय को कहने या लिखने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। तथा च स्वाध्यायकर्ताओ एव श्रोताओ को पचास्तिकाय सुनने की (लोट् लकार रूप) आदेशात्मक (आज्ञारूप) प्रेरणा कर रहे हैं।

क्या यह उपदेश देना वीतराग तीर्थंकर एवं महान मुनि की क्रिया नही है या यह उपदेश जड़क्रिया है? यह एक प्रश्न है जिसका स्पष्ट उत्तर श्री कहान जी स्वामी तथा प० वशीधर जी दें।

अपराधी भी निरपराध

संसार मे जितने कुकर्म, अपराध, अत्याचार, दुराचार होते हैं वे सब शरीर, वचन और मन से होते हैं और ये तीनो—द्रव्यमन, वचन और शरीर जड पौद्गलिक पदार्थ हैं, अत. वे सभी कुकर्म, अपराध, अत्याचार, दुराचार श्री कहान जी स्वामी के लिखे अनुसार जड़क्रिया रूप हैं, तो आत्मा इस क्रिया का अपराधी क्यो माना जाता है क्योकि जडक्रिया करना आत्मा का लक्षण नही एव शरीर तो पर-पदार्थ है।

फिर किसी मनुष्य के हत्यारे को प्राण का दण्ड (फांसी) क्यों मिलता है, क्योकि वह हत्या तो जड़-क्रिया है, आत्मा की क्रिया नहीं है ? शराब पीना, मांस खाना क्यो निषिद्ध है क्योकि खान पान तो जड-क्रिया है ? व्यभिचार भी आत्मा के लिए पाप क्यो हो, क्योकि वह भी शरीर की जड़-क्रिया है ?

इस तरह जड़-क्रिया के सिद्धान्त से संसार में आत्मा के लिये त्याज्य कोई भी अपराध या दुराचार नही रहता, फिर नरक जाना, फांसी चढ़ाना, कारावास (जेल) आदि दण्ड क्यो दिया जाता है तथा क्यों भोगा जाता है ?

स्वयं भी करते हैं

श्री कहान जी स्वामी ने मुनियो के लिए तो कह दिया कि 'दूसरों को उपदेश देना मुनियो का लक्षण नहीं है, उपदेश देना जड़क्रिया है।' परन्तु वे स्वय प्रतिदिन जो श्रोताओ को उपदेश देते है सो क्या वह उनके आत्मा की क्रिया है ? या क्या उनका उपदेश जड-क्रिया है ? यदि है तो वह उस जड-क्रिया को क्यो करते हैं ? वे जो अतिव्याप्ति दोष मुनियो के लक्षण मे दिखा रहे हैं क्या वह दोष आपके प्रवचन में नहीं आता ?

तथा च—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप मुनि का लक्षण मुनियो मे नही पाया जाता, इस बात को कौन अल्पज्ञ व्यक्ति साधिकार कह सकता है ?

आधार

सोनगढ साहित्य के पक्ष-पोषण के लिये लेखक ने जो समयसार की गाथा ८६-८७ तथा ३२१-३२३ का सकेत किया है, सो इसके साथ ही लेखक पचास्तिकाय की दूसरी गाथा और उस ी टीकाओ का भी अवलोकन करें तथा श्री कुन्दकुन्द आचार्य की नय-शैली का अनुभव करके अपना भ्रम निरास करें। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने ग्रन्थ मे केवल निश्चय नय का एकान्त पक्ष नही लिया।

उन्होने जिस समयसार मे यह लिखा है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नही कर सकता, उसी समयसार मे यह भी स्पष्ट लिखा है कि संसारी जीव जड कर्म आयु के उदय से जीता है, आयु कर्म के क्षय से मरता है, आत्मा के सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र का पौद्गलिक दर्शन मोहनीय ज्ञानावरण, चारित्र मोहनीय कर्म प्रतिबन्ध करता है।

२ मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३२७ का कथन मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से है, सम्यग्दृष्टि मुनि की अपेक्षा से नही है। किन्तु सम्यग्दर्शन; ज्ञान, चारित्र आत्मा के अमूर्तिक गुण हैं, वे दिव्य ज्ञान-गम्य हैं। श्री कहान जी स्वामी तथा प० वशीधर जी दिव्य-ज्ञाता नही हैं जिससे वे किसी व्यक्ति के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व का स्पष्ट जान सकें।

अतः ये आधार सोनगढ-साहित्य की गलत मान्यता का समर्थन नही करते।

निमित्त-कर्ता

स्वतन्त्रता से किसी भी काम के करने वाले को 'कर्ता' (करने वाला) कहते हैं। वह कर्ता दो प्रकार का होता है—१. उपादान कर्ता, २. हेतु-कर्ता या निमित्त कर्ता। जहां स्वय उपादान कारण किसी कार्य को करता है उस क्रिया का उपादान कर्ता होता है। जैसे—विद्यार्थी पढता है। इस पढने की क्रिया का करने वाला स्वय विद्यार्थी है, अत. 'पढ़ता

है इस क्रिया का विद्यार्थी स्वयं उपादान रूप से कर्ता है।

जहाँ पर उपादान से भिन्न कोई अन्य पदार्थ किसी क्रिया में प्रेरक (प्रेरणा करने रूप), बलाधान (उस काम मे सहायक) या उदासीन रूप से करने वाला होता है वहाँ वह अन्य पदार्थ उस क्रिया का हेतु-कर्ता या निमित्त-कर्ता होता है। जैसे अध्यापक पढाता है। यहाँ विद्यार्थी के ज्ञान उत्पादन क्रिया मे अध्यापक निमित्त कारण है, अतः वह अध्यापक विद्यार्थी की ज्ञान-वृद्धि क्रिया का हेतु-कर्ता है।

इसी प्रकार जीव ससार मे भ्रमण करता है इस संसार-भ्रमण क्रिया का हेतुकर्ता या निमित्त-कर्ता पौद्गलिक जड़ कर्म गति, आयु है, क्योंकि गति कर्म की प्रेरणा (जबरदस्ती) से जीव को नरक, निगोद आदि गतियो मे भ्रमण करना पडता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य पचास्तिकाय मे लिखते है—

णेरइतिरियमणुआ देवा इदि णामसजुदा पयडी।
कुव्वंति सदो णास असदो भावस्स उप्पादं ॥५५॥

अर्थ—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवगति नाम कर्म आत्मा के सत् (पूर्व पर्याय के अस्तित्व) का नाश करता है और असत् (नई पर्याय) की उत्पत्ति करता है।

यहाँ श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने आत्मा की नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव पर्याय का हेतुकर्ता पौद्गलिक नाम कर्म को बतलाया है। विस्तार भय से यहाँ श्री अमृतचन्द्र सूरि तथा श्री जयसेन आचार्य की टीका नहीं दे रहे, जिन भाइयो को जिज्ञासा हो, वे वहाँ देख लें। जो मुमुक्षु भाई या सोनगढ के नेता आत्मा के ससार-भ्रमण का कर्ता द्विक्रियावाद की आशंका खडा करके नाम कर्म रूप अन्य द्रव्य को नहीं मानते, वे उन दोनो टीकाओं को देखकर अपनी भ्रान्ति अवश्य दूर कर लें।

इसी प्रकार शरीरस्थ आत्मा उपदेश क्रिया का हेतुकर्ता है।

यानी—मुनियो की जड रूप पौद्गलिक रसना इन्द्रिय (जीभ) भव्य श्रोता-गणो को आत्म-कल्याण करने वाला उपदेश देती है परन्तु उस कल्याणकारी उपदेश का प्रेरक (प्रेरणा करने वाला) हेतुकर्ता मुनि का आत्मा होता है। बिना मुनि के आत्मा के, या उनकी प्रेरणा के बिना वह रसना (जीभ) उपदेश का एक अक्षर भी नही कह सकती।

केवली के परम औदारिक शरीर मे जब आत्मा होता है तब ही उसके निमित्त से दिव्य-ध्वनि होती है। इसलिए उस दिव्य-ध्वनि रूप उपदेश के हेतुकर्ता तीर्थंकर केवली भगवान होते हैं।

दशवीं वार्ता

तीर्थंकर की वाणी

आत्मा को ससार मे भ्रमण कर्म-उदय के निमित्त से करना पड़ता है, अत एव जब तक समस्त कर्म जाल का क्षय नही हो जाता, तब तक आत्मा ससार से मुक्त नहीं हो पाता; यह बात सत्य है। तथापि जिस तरह पैर में चुभा हुआ कांटा अन्य कांटे की नोक से निकाला जाता है। विष को उपशम करने के लिए या उसे निर्विष बनाने के लिये अन्य विष का प्रयोग किया जाता है। नीतिकार का कहना है—'विषस्य विषमौषधम्' यानी—विष की औषध विष ही होती है। लोहे को लोहा ही काटता है, इसी तरह कर्म-बन्धन काटने के लिये भी अन्य-विशिष्ट कर्म, का उदय अनिवार्य रूप से आवश्यक होता है।

आत्मा मे ससार-भ्रमण की योग्यता जैसे अपने स्वभाव से नहीं होती है, कर्म-बन्ध तथा कर्म-उदय के कारण होती है, उसी तरह कर्मों के क्षय करने की योग्यता भी कुछ विशिष्ट कर्मों का उदय होने पर ही आत्मा में प्रगट होती है।

कोई भी संसारी जीव तबतक कर्मबन्धन काटनेके योग्य सम्यक्त्व को ग्रहण करने के योग्य नही हो सकता, जब तक कि उसके पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म का उदय न हो। एकेन्द्रिय से असज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव तथा अपर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय जीव भी सम्यक्त्व ग्रहण नही कर सकते।

इस तरह मुक्ति का मूल कारण सम्यक्त्व भी आत्मा को तभी प्राप्त हो सकता है जब कि जीव के संज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त कर्म का उदय होगा।

यह तो हो सकता है कि सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त होकर भी भव्य न होने के कारण तथा देशना प्रायोग्य करण आदि लब्धि के न होने पर, सम्यक्त्व प्राप्ति की सामग्री मे विकलता (अपूर्णता) होने के कारण सम्यक्त्व न होवे परन्तु यह निश्चित है कि यदि सम्यक्त्व होगा-तो जीव के पचेन्द्रिय जाति, पर्याप्त नाम कर्म का उदय अवश्य होगा, इन कर्मों के उदय के बिना संसारी जीव मे सम्यग्दृष्टि बनने की योग्यता नहीं होती।

इसी प्रकार सम्यक्त्व ग्रहण करने की योग्यता का विकास भी तब ही होता है जब उसको जिनवाणी के सुनने का अवसर मिलता है। बिना जिनवाणी सुने आत्मा मे सम्यक्त्व उदय होने की योग्यता नही आती, यह देशना लब्धि है, जो कि पाँच लब्धियो में तीसरी है।

अन्तरग मे मिथ्यात्व का उदय हो, तब यद्यपि जिनवाणी का श्रवण भी सम्यक्त्व उदय करने मे सफल नही हो पाता। जिस तरह कि बन्ध्या स्त्री को अपनी अन्तरग योग्यता के अभाव में अपने पति का प्रसग मिलने पर भी गर्भाधान नही होता। परन्तु यह बात तो सुनिश्चित है कि स्त्री को गर्भाधान पुरुष के प्रसंग मिले बिना नही हो सकता क्योकि गर्भाधान का मूल कारण गर्भाशयमें रज वीर्य का मिश्रण होना है। इसी तरह यदि सम्यक्त्व होगा, तो तत्काल जिनवाणी का श्रवण अथवा निसर्गज सम्यक्त्व की अपेक्षा पूर्व भव मे जिनवाणी सुनने का संस्कार जीव के अवश्य होगा।

इसी बात को श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार मे बतलाया है—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेओ भणिया दंसणमोहस्स खयपहुदी ।।५३।।

अर्थ—सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने का बाहरी निमित्त कारण जिनवाणी तथा जिनवाणीके उपदेशदाता मुनि आचार्य, तीर्थंकर आदि है और अन्तरग निमित्त कारण दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय उपशम आदि है।

इस तरह श्री १००८ सीमन्धर तीर्थंकर की साक्षात् दिव्यध्वनि सुनने वाले, मूल सघ के सस्थापक श्री कुन्दकुन्द आचार्य सम्यक्त्व होने का मूल कारण जिनवाणी का सुनना स्पष्ट रूप से बतलाते हैं, तब श्री कहान जी स्वामी अपनी पुस्तक 'मोक्षमार्ग की किरण' दूसरा भाग पृष्ठ २१२ पर लिखते हैं कि—

"तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नहीं होता।'

अपने इस कथन की पुष्टि में तर्क यह दी गई है कि—

"जिस परिणाम से तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बन्ध हुआ वह परिणाम जीव को अपने लिये हेय है और प्रकृति अहितकर है तो फिर वह दूसरों को हितकर कैसे हो सकती है। अज्ञानी जीव तीर्थंकर पुण्य प्रकृति से लाभ मानता है।"

यह तर्क और मूल बात कितनी गलत है, इसको साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है, परन्तु प० वंशीधर जी उस गलती की भी पुष्टि कर रहे हैं।

ससार के जीवो का आत्म-उद्धार तीर्थंकर के अनुपम प्रभावशाली उपदेश के द्वारा ही हुआ करता है। आज तक ऐसा एक भी मुक्त जीव न हुआ और न भविष्य मे होगा जो तीर्थंकर की वाणी को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विना सुने मुक्त होने की योग्यता (सम्यक्त्व) प्राप्त कर सका हो। अत तीर्थंकर को संसार मे तीन जगत का यानी समस्त ससारी जीवो का कल्याणकारी माना गया है, इसी महान उपकार के उपलक्ष

में प्रत्येक ग्रन्थकार ने प्रारम्भ में कृतज्ञता के साथ तीर्थंकरों का स्मरण तथा नमस्कार किया है। परन्तु श्री कहान जी स्वामी इस महान सत्य का अपलाप करके कहते हैं कि तीर्थंकर की वाणी से किसी जीव को लाभ नही होता, किमाश्चर्यंयतः परम्—इससे अधिक आश्चर्यकी बात क्या हो सकती है ?

तीर्थंकर प्रकृति

प्रवचनसार की गाथा ४५ द्वारा श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पुण्य का उत्कृष्ट फल निर्दिष्ट करते हुये लिखा है—

पुण्णफला अरहंता, तेंसि किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहि विरहिया,तम्हा सा खाइगित्ति मता ।।४५।।

अर्थ—उनका विहार, दिव्यध्वनि आदि क्रिया तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य कर्म के उदय से औदयिकी होती है। परन्तु वे मोहनीय आदि घाति कर्मों का क्षय कर चुके हैं अत: उसे क्षायिकी माना गया है।

यानी—पुण्य का सबसे उत्कृष्ट फल अर्हन्त होना है।

अर्थात्—पापी, अभागे व्यक्ति अर्हन्त नही हो सकते, परम पुण्यशाली व्यक्ति ही अर्हन्त होते हैं।

पचास्तिकाय गाथा ८५ की टीका में भी कहा है कि तीर्थंकर प्रकृति मोक्ष के लिये सहकारी कारण है।

पुण्य और पाप को एक समान मानने वाले श्री कहान जी स्वामी श्री कुन्दकुन्द आचार्य के इस एक मूल वाक्य से पुण्य और पाप के महान अन्तर को अनुभव कर सकते हैं।

पाप जब संसार में नरक निगोद आदि गतियो का भ्रमण कराता है तब पुण्य आत्मा को सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी, सम्यक्चारित्रनिष्ठ और घाति कर्म-मुक्त भी बनने में सहायता देता है। मिथ्यादृष्टि का पुण्य तो सोने की बेडी माना जा सकता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि का पुण्य तो

उस लोहे और सोने की बेडी को काटने वाला तथा अर्हन्त तक बना देने-वाला है। अत. श्री कुन्दकुन्द आचार्य के वाक्य की तो आप अवहेलना न करें, उसको तो प्रमाण मानें।

इसी लक्ष्य से श्री देवसेन आचार्य ने भावसग्रह ग्रन्थ मे लिखा है—

सम्माइट्ठी-पुण्णं ण होइ ससारकारणं णियमा,
मोक्खस्स होइ-हेऊ, जइवि णियाणं ण सो कुणई ॥४०१॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य ससार-भ्रमण का कारण नही होता। सम्यग्दृष्टि यदि निदान न करे तो उसका पुण्य मोक्ष का कारण होता है।

ऐसी दशा में मुक्ति मिलने में आर्षग्रन्थोक्त पुण्य को हेय (त्याज्य) बतलाना बहुत भारी गलती है।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध विशुद्ध सम्यग्दृष्टि के होता है, जिसको शुद्ध सम्यग्दर्शन नही होता, उस व्यक्ति को तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नही होता। इसी कारण तीर्थंकर प्रकृति-बन्ध की कारण मूल १६ भावनाओ मे 'दर्शन विशुद्धि' भावना मुख्य है।

विशुद्ध सम्यग्दर्शन के साथ विनय, निरतिचार शीलव्रत, सतत ज्ञानाभ्यास, सवेग, शक्ति अनुसार त्याग, शक्ति अनुसार तप, साधु समाधि, वैयावृत्य, अर्हद्भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत-भक्ति, शास्त्र भक्ति, आवश्यक दैनिक धार्मिक षट्कर्म का पूर्णत. पालन, प्रभावना, साधर्मी वात्सल्य, ये १५ भावनाएँ अथवा इनमें से कुछ भावनाएँ भी जिस महान् व्यक्ति के होती हैं, जिसके हृदय मे ऐसी उत्कट पवित्र भावना होती है कि "मैं कर्म-पीडित, दु.खी ससारी जीवो का उद्धार करूं।" उस महान् व्यक्ति के तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। ऐसा महान आध्यात्मिक व्यक्ति असख्य मनुष्यो में से कोई विरला ही होता है।

अतएव एक उत्सर्पिणी या एक अवसर्पिणी युग मे भरत, ऐरावत क्षेत्र में जहां साधारण मुक्ति-गामी मनुष्य असख्य होते हैं, वहां तीर्थंकर

केवल २४ ही होते है। तीर्थंकर प्रकृति की कारणभूत सभी भावनाएं मुक्ति की कारणभूत भावनाएँ है, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र की वृद्धि करने वाली हैं। इनमें कोई एक भी भावना ऐसी नही हैं, जो संसार-भ्रमण की कारण हो। विशुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव की भावना तो वैसे ही मुक्ति-पथ में प्रगति कराने वाली होती है।

तीर्थंकर प्रकृति के कारण मुक्त होना उसी भव से अथवा तीसरे भव से निश्चित हो जाता है। तीर्थंकर के गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण के समय ऐसा महान दिव्य उत्सव होता है जिसको देखकर बहुत से जीवों को मुक्ति के कारणभूत कल्याणकारी सम्यक्त्व का उदय होता है, इसी कारण उन उत्सवों को कल्याणक (देखने वालों को भी कल्याणकारी) कहते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का महत्व इसी से जाना जा सकता है कि जब चारो घाति कर्म क्षय हो जाते हैं तब अर्हन्त अवस्था में उस तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है। तीर्थंकर का उपदेश सुनने के लिये असख्य जीवो के लिये सुविधाजनक विशाल सभा मण्डप (समवशरण) बनता है। जिसमे चतुर्विध सघ रूप लाखों स्त्री पुरुष, चारो प्रकार के असंख्यात देव-देवियाँ और लाखो पशु पक्षी भी सुख से बैठ कर भगवान का प्रभावशाली उपदेश प्रतिदिन ६-६ घडी (लगभग ढाई घटे) चार बार सुनते हैं। जिसको सुनकर श्रोताओ का आध्यात्मिक अज्ञान दूर होता है और मोह-अन्धकार दूर होता है तथा धार्मिक भावना जाग्रत होती है। इन्द्रभूति गौतम-जैसे अश्रद्धालु व्यक्ति सत्धर्म के श्रद्धालु बन कर स्व-पर-कल्याण करते हैं। समस्त देशों में तीर्थंकर की वाणी से धर्म का प्रसार होता है, अधर्म स्वयमेव दब जाता है, तीर्थंकर की वाणी से ही द्वादशाग श्रुतज्ञान का प्रादुर्भाव होता है।

यदि भगवान महावीर आदि तीर्थंकर न होते तो आज ज्ञान-ज्योति जाग्रत करने वाले और धर्म-भावना प्रगट करने वाले चारो अनुयोग रूप शास्त्र कहाँ से आते?

श्री कहान जी स्वामी आत्म-निरीक्षण करें कि असंख्य जनता का कल्याण करने वाली तीर्थंकर की वाणी ने उनका अपना निजी उपकार भी किया है या नही ? मन्दिरो मे जो तीर्थंकरो की पाषाण प्रतिमाओ की अर्हन्त भगवान के रूप मे पूजा की जाती है, उसका मूल कारण वही उसकी विश्व कल्याणकारिणी दिव्यध्वनि है।

ऐसी दशामे पाठक महानुभाव विचार करें कि 'क्या तीर्थंकर प्रकृति श्री कहान जी स्वामी के कथनानुसार अहितकर है ? क्या तीर्थंकर की वाणी से किसी को लाभ नही होता ?,

पचास्तिकाय के मंगलाचरण मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य जिनवाणी को तीनलोक की हितकारिणी बतलाते हैं—

'तिहुअणहिदमधुरविसदवक्काण'

यानी—त्रिभुवन के लिये हितकारी, सुनने में मधुर और विशद वाणी वाले (जिनेन्द्र)

श्री कुन्दकुन्द आचार्य भावपाहुड मे लिखते हैं—

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥९२॥

अर्थ—तीर्थंकर द्वारा भाषित, गणधर देव द्वारा ग्रथित अतुल्य श्रुतज्ञान (जिनवाणी) को प्रतिदिन विशुद्ध भाव से पढो।

जब श्री कुन्दकुन्द आचार्य जिनवाणी को प्रतिदिन पढने की प्रेरणा करते हैं तब श्री कहान जी स्वामी जिनवाणी से किसी को लाभ न मिलने की बात कहते हैं।

इसके लिए भी आधार

तीर्थंकर की वाणी से किसी का अकल्याण—अहित नही होता, जो उसको हृदय से सुनता है उसका कल्याण ही होता है। अतः श्री कहान जी स्वामी को अपनी गलती स्वीकार करके उसका सुधार करना

चाहिये था। पं० वंशीधर जी कलकत्ता का कर्तव्य था कि वे श्री कहान जी स्वामी को इस गलत बात का सुधार करने का परामर्ष देते। ऐसा न करके पं० वंशीधर जी ने उस गलती का भी पोषण करने के लिये वादरायण संबंध मिलाकार कुछ आधार दिये हैं, जिनमें प्राय. सबके सब सोनगढ साहित्य के हैं। जो कि व्यर्थ हैं, क्योंकि गलती का सुधार गलत आधार से नही हुआ करता।

इष्टोपदेश का ३५वां श्लोक उपदेश के रूप मे है, वह सिद्धान्तरूप नही है। इष्टोपदेश गाथा ३५ मे परद्रव्य को निमित्त (सहकारी) कारण स्वीकार किया है, किन्तु श्री कहान जी स्वामी तो जिन-वाणी को सहकारी कारण भी नही मानते। यदि श्री पूज्यपाद आचार्य का सिद्धान्त देखना है तो इस विषय मे उनका सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ देखिये। जिसमे प्रथम अध्याय के 'निर्देशस्वामित्व' आदि सूत्र की व्याख्या करते हुए गत्यनुवादेन चारों गतियों में सम्यक्त्व उत्पन्न होने के अत एव अज्ञानी से ज्ञानी बनने के विभिन्न निमित्त कारणो का निर्देश है।

तथा अध्याय पाँच सूत्र २१ की टीका में कहा है—

"आचार्य दोनों लोक में सुखदायी उपदेश द्वारा तथा उस उपदेश के अनुसार क्रिया में लगाकर शिष्यों का उपकार करते हैं।"

गुरु तथा पाठशाला आदि के निमित्त से प्रतिवर्ष लाखों करोड़ों अज्ञानी विद्यार्थी अपना अज्ञान दूर करके विद्वान बनते हैं। स्वय पं० प० वशीधर जी शास्त्री संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ थे, श्री प० चैनसुख दास जी के अध्यापन से उनकी संस्कृत भाषा-विषयक अज्ञता दूर हुई।

तथाच—वीसों विद्वान कारण-वश विक्षिप्तचित्त होकर, २०० पुस्तको के लेखक, अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान महापडित राहुल जी के समान

अज्ञ भी बन जाते हैं। इस तरह निमित्त कारण अज्ञानी को ज्ञानी और ज्ञानी को अज्ञानी बना देता है। जिस तरह धर्मास्तिकाय का निमित्त ऊर्ध्व-गमन-स्वभावी, स्वतन्त्र, अनन्त शक्ति-सम्पन्न मुक्त जीव को लोकशिखर पर ही रोक देता है, उससे आगे नहीं जाने देता।

अब पडित वशीधर जी इष्टोपदेश के ३५ वें श्लोक का रहस्य ज्ञात करें।

२—भैया भगवतीदास जी ने निमित्त उपादान मवाद में जो कुछ लिखा है वह उपादान कारण की मुख्यता से उपदेश रूप लिखा है, वह कोई सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं हैं, वह तो एक तरह से उत्साह-वर्द्धक नीति-ग्रन्थ है। भैया भगवती दास जी उपादान कारण के एकान्तवादी नहीं थे। वे निमित्त कारण को भी कार्यसिद्धि मे उपयोगी मानते थे, देखिये वे लिखते हैं—

"निश्चय ध्यान धरो वा प्रभु को, जो टारैं भव भीरा रे।"

इसमें 'भव-पीर नाश करने वाले जिनेन्द्र प्रभु हैं' ऐसा बतलाया है। भैया भगवतीदास जी को भी तो आध्यात्मिक ग्रन्थों द्वारा ही आध्यात्मिक ज्ञान हुआ था। वे फिर तीर्थंकर की वाणी को अलाभकारी या अहितकारी कैसे बतलाते?

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पचास्तिकाय की प्रथम गाथा मे कहा है कि 'जिनेन्द्रदेव की वाणी तीन लोक का हित करने वाली है' और इसकी टीका मे श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने कहा है कि 'जिनवाणी लोकवर्ती समस्त जीव-समूह को निर्वाध विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि का उपाय कहने वाली है, इसलिये हितकर है।' पचास्तिकाय की दूसरी गाथा मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है कि जिनवाणी पदार्थों का कथन करने वाली है और निर्वाण को देने वाली है। तब श्री कहान जी स्वामी श्री कुन्दकुन्द आचार्य तथा श्री अमृतचद्र आचार्य की बात को भी नहीं मानते, अपितु उनके उपदेश के विरुद्ध ही श्री कहान जी स्वामी का उपदेश है।

जिस जिनवाणी को लोक में मंगल, लोकोत्तम एव शरणभूत माना गया है उस जिन वाणी को हितकारिणो न बताना खेद-जनक है।

इस तरह शास्त्रि परिषद के प्रस्ताव की दशवी बात सोनगढ़ साहित्य की सब से अधिक गलत, सिद्धान्त-विरोधी वात है।

तीर्थंकर की वाणी न होती तो ये समयसार आदि ग्रन्थ कहा से आते ?

ग्यारहवीं वार्ता

तीर्थक्षेत्र

जैन संस्कृति की सुरक्षा के लिये जिस तरह हमारे मन्दिर और देव प्रतिमाएँ परम निमित्त हैं, उनके दर्शन पूजन वन्दन से जैन जनता की धार्मिक आस्था स्थिर रहती है, मानसिक शुद्धि जाग्रत होती रहती है। उसी तरह जैन संस्कृति की सुरक्षा मे हमारे तीर्थ-स्थान भी बहुत उपयोगी हैं।

शुद्ध आत्म-तत्व को प्राप्त करने के लिये ही पाषाण की प्रतिमा को अर्हन्त भगवान की भावना से वन्दना, प्रणाम किया जाता है, उसकी अष्टद्रव्य से पूजन तथा अभिषेक किया जाता है। इस व्यवहार से भक्त अपने भगवान के वीतराग गुण का ज्ञान, मनन, अनुभव करके अमूर्तिक, शुद्ध, शान्त, वीतराग आत्मा का अवलोकन उस प्रतिमा मे करता है। इस प्रक्रिया में प्रगति करता हुआ 'दासोऽहम्' (हे भगवान् मैं आपका भक्त दास हूँ) का प्रार्थी भक्त कभी अपने एकाग्र ध्यान मे 'सोऽहम्' का ध्याता बन जाता है। और 'सोऽहम्' (मैं भी वैसा परम

शुद्ध भगवान् हूँ ।) का ध्यान प्रगति करके कालान्तर मे इस भक्त को भगवान् बना देता है ।

आत्मा से परमात्मा बनने में ये बातें आवश्यक हैं—अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव । बाजार में, सिनेमा घर मे वीतराग भावना हृदय मे नही आ सकती क्योकि उन स्थानो का वातावरण रागभावना के अनुकूल होता है, वीतराग भावना के प्रतिकूल होता है । इसी कारण विरक्त मुनियो को ऐसे स्थानों पर रहना या ठहरना निषिद्ध है । मन्दिरो मे वैसा रागद्वेष-मय वातावरण नही होता, अतः मदिरो मे राग द्वेष-वर्द्धक भावना प्रायः नही होती । वहा के वातावरण मे वीतराग के गुणस्मरण करने की, स्वाध्याय करने की तथा शान्ति के साथ सामायिक करने की भावना होती है । इसी कारण धार्मिक स्त्री पुरुष प्रतिदिन मन्दिर मे जाकर यथासम्भव धर्म-आराधना करते हैं ।

ऐसी ही बात तीर्थ-क्षेत्रों के विषय मे है । गृहस्थाश्रम के वातावरण में स्त्री पुरुषों का मन परिग्रह-संग्रह मे, घर-व्यापार के विविध कार्यों में तथा चिन्ताओ मे एव आर्तध्यान रौद्रध्यान मे लगा रहता है । जब वे ही स्त्री पुरुष तीर्थ-यात्रा के लिये जाते हैं, तब घर-बार- व्यापार, लेन-देन की चिन्ता से, आर्तध्यान, रौद्रध्यान से मुक्त हो जाते हैं, और जिस तीर्थ पर वन्दना के लिये वे जाते हैं वहा के वातावरण मे उनको उन ही महापुरुष का स्मरण आता है, जिन्होने वहां पर तपश्चरण करके अपना आत्मा शुद्ध किया और अजर अमर होकर मुक्ति प्राप्त की ।

गिरनार के वातावरण में भगवान नेमिनाथ का स्मरण आता है कि वे इसी पर्वत के निकटवर्ती जूनागढ मे राजा उग्रसेन की सुन्दरी युवती गुणवती कन्या राजुल का पाणिग्रहण करने आये थे किन्तु अपनी वर-यात्रा के कुछ यात्रियो के निमित्त होने वाली हिंसा का विचार करके ससारी जीवन से उनको विराग हो गया और वे अपना दूल्हे का वेष बदल कर, उस तरुण वय मे राज-भोग छोड, महाव्रती नग्न साधु बन गये । उन्होने तरुणवय मे कामदेव पर ऐसी विजय प्राप्त की, कि राजुल

का अनुनय, विनय, निवेदन, रुदन भी उन्हें कामासक्त न बना सका।

राजुल भी उनके वैराग्य से इतनी प्रभावित हुई कि उसने भी अपना जीवन संसार के राग से मोडकर आत्म-साधना मे लगा दिया। नवयौवन की उद्दाम वासनाओ को परास्त करके अटल ब्रह्मचारिणी, संसार-विरक्त साध्वी बन गई। उसने भी अपना नर-भव सफल कर लिया।

सम्मेदशिखर का वातावरण तो उससे भी अधिक प्रभावशाली है, जहाँ पर २० तीर्थंकरोने और असख्य मुनियों ने अचल शुक्लध्यान से आत्म-साधना की और संसार के आवागमन से मुक्त होकर अविनाशी स्वतन्त्रता, परम शुद्धता प्राप्त की। प्रत्येक उत्सर्पिणी के दुःषमा सुषमा काल मे समस्त तीर्थंकर यही से मुक्त होते हैं। इत्यादि विचार-धारा तथा स्वात्मचिन्तन सम्मेदशिखर के पवित्र वातावरण मे जाग्रत होता है।

इसी प्रकार अन्य तीर्थ-क्षेत्रों के वातावरण में भी सांसारिक वासनाए अस्त होकर आत्म-शोधन की भावना जाग्रत होती है।

ऐसी दशा मे श्री कहान जी स्वामी का अपनी पुस्तक मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण के दूसरे भाग पृष्ठ १७० पर यह लिखना कैसे ठीक माना जावे कि—

"सम्मेदशिखर गिरनार आदि के वातावरण से धर्म की रुचि होती है, ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है।"

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़कर अच्छा या बुरा परिणमन होता है। अग्नि अन्य द्रव्य है और मनुष्य का सजीव शरीर अन्य द्रव्य है। उस पर-द्रव्य अग्नि को यदि मनुष्य के हाथ पर रख दिया जाय तो उस पर-द्रव्य के निमित्त से मनुष्य व्याकुल हो जाता है, उसका हाथ जल जाता है। विष खाने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती

है, औषधि खाने से रोग-शान्ति तथा भाव-शान्ति हो जाती है। मदिरा-पान से ज्ञान विकृत हो जाता है।

इसी तरह पर-द्रव्य रूप क्षेत्र का भी प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। गर्मी मे मरुस्थल(रेगिस्तान)का क्षेत्र अत्यन्त गर्म वालू का होने के कारण मनुष्य की शान्ति भङ्ग कर देता है और सघन वृक्ष की छाया का क्षेत्र मनुष्य को शान्ति प्रदान करता है। यानी—शान्ति अनुभव में निमित्त कारण वनता है। नरक मे साता वेदनीय कर्म का उदय भी पर-मुख रूप उदय होकर दुखदायी होता है और स्वर्ग के क्षेत्र मे असाता वेदनीय कर्म का उदय भी परमुख उदय होकर सुखदायक वन जाता है।

इसी तरह चोर, लुच्चो, गुण्डो, डाकुओं का क्षेत्र भय उत्पत्ति का कारण होता है और सज्जनो का क्षेत्र सुख शान्ति का निमित्त कारण होता है। तदनुसार तीर्थों का क्षेत्र धार्मिक परिणाम उत्पन्न करने का निमित्त है, जबकि घर के क्षेत्र में वह प्रभाव नही होता।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने प्रवचनसार गाथा २५५ में कहा है कि भूमि की विपरीतता से एक ही वीज की विपरीत निष्पत्ति होती है कारण के भेद से कार्य में भेद अवश्यम्भावी है।

इस तरह कार्यकारण भाव की मान्यता मे मिथ्यात्व की क्या वात है?

श्री कहान जी स्वामी भी यदा कदा (जब तब) गिरनार, सम्मेद-शिखर आदि तीर्थों की यात्रा को गये है, यदि उन तीर्थ-स्थानो के वातावरण मे धार्मिक भाव उत्पन्न कराने की निमित्त-कारणता नही है तो उन्होने यह प्रयास क्यो किया?

मन्दिर, स्वाध्यायशाला, तीर्थस्थान आदि यदि धर्मक्षेत्र न हो तो महान ज्ञानी ऋषि, मुनि, विद्वान क्यो वहा पर जाने का कष्ट करें। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी गिरनार तीर्थ की यात्रा अपनी भाव-शुद्धि करने के लिए की थी। जिस प्रकार की भाव-शुद्धि श्रवण वेलगोला तीर्थ स्थान

पर भगवान बाहुबली के दर्शन करने से होती है, उस तरह की भाव-शुद्धि अन्य स्थान पर नही होती। भिन्न-भिन्न क्षेत्रो का वातावरण भिन्न भिन्न प्रकार का होता है।

इस तरह तीर्थस्थानो के वातावरण मे धर्म-रुचि उत्पन्न कराने का निमित्त न मानना गलत है। तीर्थ-यात्री के मन मे तीर्थस्थान मे जो धर्मरुचि होती है, उस धर्मरुचि मे तीर्थस्थान निमित्त कारण है।

श्री प० सदासुख जी कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका, बुधजन बारह भावना और समाधिमरण के वाक्य सोनगढ की उक्त बात का समर्थन नही करते। उनका तो आशय केवल इतना है कि मनुष्य को धर्मलाभ तभी होता है जबकि तीर्थ-स्थान, मन्दिर आदि बाहरी निमित्त कारणो के साथ अन्तरग निमित्त कारण भी क्रियाशील हो। जैसे कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति में नियमसार गाथा ५३ के अनुसार अन्तरग और बहिरग दोनो प्रकार के निमित्त कारणो का होना आवश्यक बतलाया गया है।

रत्न-करण्ड श्रावकाचार के श्लोक ११६ मे पूजन का फल मोक्ष बतलाया है, उसकी टीका मे श्री पं० सदासुखदास जी ने लिखा है—

"वीतराग सर्वज्ञ को आराधन करता तो कर्म के बंध का नाश करि स्वाधीन मोक्ष रूप आत्मा कूँ प्राप्त होता है। तातैं संसार के समस्त दुखों का नाश करने वाला जिनेन्द्र का पूजन ही करो।"

कोई लड़का पाठशाला मे जाकर पढ़े नही, वहा खेलता कूदता रहे, दंगा मचाता रहे तो इसका अभिप्राय यह नही है कि पाठशाला का क्षेत्र ज्ञान-वृद्धि का निमित्त कारण नही है। हजारो लाखो करोड़ो विद्यार्थी पाठशालाओ स्कूलो कालेजो के निमित्त से विद्वान बनकर तैयार होते हैं। ऐसी ही बात तीर्थ-क्षेत्रो के विषय मे है।

इस कारण सोनगढ साहित्य की ग्यारहवी बात भी कार्यकारण भाव के विरुद्ध होने से तथा आगम-विरुद्ध होने से गलत है। भक्ति-पाठो में तीर्थ क्षेत्रों का वन्दना-पाठ धार्मिक भावना जाग्रत करने के उद्देश्य से ही लिखा है।

★

बारहवीं वार्ता

जीओ और जीने दो

अनादि काल से ससारी जीव कर्मबन्धन से बन्धा हुआ, आयु कर्म के अनुसार जन्म-मरण करता हुआ चला आ रहा है। वह आयु कर्म के उदय से जीवित रहता है और आयु कर्म के क्षय से उस ससारी जीव का मरण होता है, ऐसा नियम है।

परन्तु इस नियम का एक अपवाद भी है, जिन मनुष्यो, पशु-पक्षियो, कीड़े-मकोड़े आदि जीवों की आयु निकाचित (निरुपक्रम) नही होती उनकी मृत्यु आयु-कर्म समाप्त होने से भी पहले (अकाल मृत्यु) हो जाती है।

इस अपमृत्यु (अकाल मरण) का विधान भावपाहुड की गाथा २५-२६-२७ मे तथा तत्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र ५३ की टीका राजवार्तिक आदि आर्ष ग्रन्थो में पाया जाता है।

अतएव तलवार बन्दूक आदि अस्त्र-शस्त्रो द्वारा अन्य जीवो का तथा स्वय अपना भी असमय मे (आयु समाप्त होने से पहले) प्राणघात किया जा सकता है। वन पर्वतो मे सिंह, बाघ, चीते, भेड़िये आदि हिंसक जीव हिरण, नीलगाय, खरगोश आदि जीवो को मार कर खाते रहते हैं। मनुष्य प्रतिदिन लाखो करोडो मछलियो को, बूचडखानो में गायों, बकरियो, सूअरो आदि को तथा कबूतरो आदि पक्षियों को बदूक छुरी आदि से मार कर उनका मास खाया करते हैं। असख्य रेशम के कीडे तथा अन्य प्रकार के कीडे-मकोडे विविध प्रकार से मारे जाते हैं।

जब कि सभी मनुष्य, पशु पक्षी सुख से जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नही चाहता। क्योंकि मरने से प्रत्येक जीव को कष्ट होता है। उस कष्ट से बचाने के लिए श्री जिनेन्द्र भगवान ने अन्य जीव का तथा अपना

प्राणघात न करने का उपदेश दिया है। समस्त धर्म-ग्रन्थों में दया करने, अहिंसा पालन करने का उपदेश है। जैन धर्म तो 'अहिंसा परमो धर्मः' की ध्वजा फहराता है।

शास्त्रों मे गृहस्थों और मुनियों को क्रम से अहिंसा अणुव्रत और अहिंसा महाव्रत आचरण करने का विधान है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने बोधपाहुड़ की २५ वी गाथा में 'धम्मो दयाविसुद्धो' (यानी-धर्म दयामय होता है), मोक्ष पाहुड़ की ६० वी गाथा मे 'हिंसारहिये धम्मे' (धर्म अहिंसा रूप है) लिखा है। उसी का सारांश हिन्दी भाषा में कहा जाता है कि—

जीओ और जीने दो (Live and let live)

अर्थात् न तो तुम आत्महत्या (अपनी प्राणहिंसा) करो और न अन्य जीव की हिंसा करो।

इस पवित्र धर्म वाक्य के विषय मे श्री कहान जी स्वामी अपनी पुस्तक मोक्ष-मार्ग किरण (दूसरा भाग) में पृष्ठ १८४ पर लिखते हैं—

"जियो और जीने दो' अज्ञानी कहते हैं।"

श्री कहान जी स्वामी का यह लिखना यदि ठीक हो तो इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि **'मरो या मारो'** ऐसा ज्ञानी कहते हैं। परन्तु ऐसी बात अभी तक किसी भी ज्ञानी ने नहीं कही। चरणानुयोग के जितने भी मूलाचार, अनगारधर्मामृत, रत्नकरण्डश्रावकाचार तत्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, चारित्रसार, आचारसार, चारित्रपाहुड, रयणसार, नियमसार, पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, वसुनंदिश्रावकाचार, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, आदि श्रावक-चर्या एवं मुनिचर्या के आर्ष ग्रन्थ हैं उन सब में यही उपदेश आदि से अन्त तक भरा हुआ है कि 'न तो आत्मघात करो और न अन्य जीवों का घात करो। अपनी द्रव्यहिंसा और भावहिंसा मत होने दो तथा च अन्य

प्राणियो के द्रव्यप्राणो और भावप्राणो की रक्षा करो, स्वप्न मे भी किसी को दुख न दो।'

इसी अहिंसा धर्म को अधिकाधिक सुरक्षित रखने के लिए गृहस्थो को सत्य-आदि ४ अणुव्रतो, ३ गुणव्रतो, ४ शिक्षाव्रतो का आचरण करना बतलाया है और मुनियो के अहिंसा महाव्रत को पुष्ट करने के लिए ही सत्य आदि ४ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति के आचरण करने का विधान किया है।

ये समस्त ग्रन्थकार स्वय महान ज्ञानी तथा उच्च आचार-धारक थे ही, किन्तु इसके साथ ही उन्होने जो कुछ शास्त्रो मे लिखा, वह गुरु-परम्परा से प्राप्त केवल ज्ञानी जिनेन्द्र की वाणी के अनुसार ही लिखा है, अपने पास से कल्पना करके कुछ नही लिखा।

इसका अभिप्राय यही है कि 'जीयो और जीने दो' का उपदेश परम्परा से केवलज्ञानी अर्हन्त भगवान का दिया हुआ है और ज्ञानी आचार्यों ने उसे अपने ग्रन्थो में अच्छे विस्तार से लिखा है।

मद्यपान, मास-भक्षण, मधु-भक्षण तथा अन्य अभक्ष्यो के भक्षण का त्याग भी अहिंसाव्रत के निर्दोष पालन करने के लिए ही बताया गया है। रात्रिभोजन त्याग, जलगालन का विधान भी 'जीयो और जीने दो' की भावना से किया गया है। पर्व दिनो मे उपवास, एकाशन, सचित्त-वस्तु त्याग, ब्रह्मचर्य पालन, आरम्भत्याग आदि का आचरण भी जीवो की रक्षा करने, अहिंसा को सम्पुष्ट करने के उद्देश्य से किया जाता है। इत्यादि।

प्राय: सब तरह से केवलज्ञानियो का उपदेश तथा द्वादशाग-वेत्ताओ एव अन्य महान ज्ञानी ऋषियो महर्षियो का तो 'जीओ और जीने दो' के अनुरूप ही उपदेश है। क्या ये सब श्री कहान जी स्वामी के कथन अनुसार अज्ञानी हैं?

तर्क

आपने अपने कथन को पुष्ट करते हुए लिखा है—

"किसी का जीवन किसी परके आधीन(अधीन) नहीं है। शरीर या आयु से जीना यह आत्मा का जीवन नहीं है। अपनी पर्याय में पुण्य पाप के भाव स्वभाव की दृष्टिपूर्वक न होने देना और ज्ञाता दृष्टा(द्रष्टा) रहना उसका नाम जीवन है।"

श्री कहान जी स्वामी अपने कथन में जो सबसे बड़ी गलती करते हैं वह यह है कि वे जो कुछ भी कहते हैं उसमें नय-विभाग नही करते। प्रत्येक बात में निश्चय नय का एकान्त रखते है, व्यवहार नय को सर्वथा छोड देते हैं, जबकि सिद्धातन: वे छोड़ नही सकते। निश्चय नय का विवेचन करना उनकी शक्ति से बाहर की चीज है। तथा जिन को वे उपदेश देते हैं वे एव स्वामी जी उस निश्चय नय-अनुसार आचरण से योजनो दूर हैं। क्योंकि आत्मा जब निश्चय नय से बोलता नही है, शरीर बोलता है, तो निश्चयनय का वर्णन भी व्यवहार नय द्वारा ही श्री कहान जी स्वामी करते हैं। निश्चयनय से तो वे न एक अक्षर भी बोल सकते हैं और न एक अक्षर लिख सकते हैं।

ज्ञाता द्रष्टा

श्री कहान जी स्वामी अपने प्रवचन में जिस **'ज्ञाता और द्रष्टा'** बनने का पद-पद पर उपदेश करते हैं, वह **'ज्ञाता द्रष्टा बनना'** इस युग में केवल एक कहने तथा अपना मन प्रसन्न करने की चीज है, आचरण की चीज नही है।

जब तक मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म निर्मूल नाश न हो जावें तब तक कोई भी व्यक्ति ज्ञाता द्रष्टा नही बन सकता। मोहनीय कर्म का उदय कषाय भावों से सदा व्याकुल बनाये रहता है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म आत्मा को सच्चा ज्ञाता

द्रष्टा बनने से रोके हुए हैं, अन्तराय कर्म ज्ञाता द्रष्टा बनने की तथा स्वरूप मे स्थिर रहने की शक्ति को रोके हुए है, ऐसी दशा में संसारी, गृहाश्रमी जीव की कषायरंजित, अस्थिर, चचल, निर्बल मनोवृत्ति में ज्ञाता द्रष्टा बनने की शक्ति कहां से आ सकती है ? वीतराग भाव उसमे एक क्षण भी नहीं प्रगट हो सकता।

ऐसी दशा मे—

कोई भी महान व्यक्ति (वह चाहे कोई मुनीश्वर हो या स्वय श्री कहान जी स्वामी हों एव चाहे मुमुक्षु सज्ञा-अलंकृत उनके अनुयायी हो) सरागसम्यक्त्व और सराग-सयम-रूप पुण्य-भावो के अतिरिक्त उच्च भाव कर ही नहीं सकते। श्री कहान जी स्वामी तथा उनके कोई भी अनुयायी अव्रती होने के कारण 'सराग संयम' के भाव भी नहीं कर सकते।

सराग सम्यक्त्व भी निश्चय नय तथा व्यवहार नय के मध्यस्थ व्यक्ति को होता है। निश्चय नय के एकान्तवादी या व्यवहारनय के एकान्तवादी के सराग सम्यक्त्व भी नहीं होता। शुद्ध सम्यक्त्व अपरनाम वीतरात सम्यक्त्व तो रागभाव के अभाव मे दशवें गुणस्थान से ऊपर ही होता है।

ऐसी दशा मे श्री कहान जी स्वामी प्राय अपने प्रत्येक पैराग्राफ मे जो पुण्य भाव को छोड देने का उपदेश देते हैं, सो क्या वे उस पुण्य-भाव से कभी एक क्षण भी स्वय छूट सकते है ? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर वे यदि आत्म-अवलोकन करके स्वच्छ हृदय से दें, तो सम्यग्दृष्टि के पुण्य को त्याज्य अपने मुख से वे कभी न कह सकेंगे। यो अपने मन की और अपने आत्मा की वास्तविक दशा को प्रच्छन्न रख कर मुख से चाहे कुछ भी कहें।

अत. ज्ञाता द्रष्टा बनना और पुण्य भाव का त्याग करना अभी तो बहुत दूर की बात है। इस संसारी दशा में जीव की स्थिति को शरीर

और आयु कर्म (१० द्रव्य प्राणमयो) के साथ यथासम्भव दर्शन उपयोग, ज्ञान-उपयोग मान कर ही चलना होगा। जब ससारी जीव एक क्षण भर भी शरीर (पाँचो शरीरो मे से यथासम्भव) और आयु कर्म के बिना जीवित नही रहता तो शरीर और आयु के विना ससारी जीव के जीवन की वात करना कोरा भ्रम है। समस्त आचार-व्यवस्था, हिंसा और अहिंसा की परिभाषा सशरीर संसारी जीव को लेकर ही तो है। यदि वास्तविक परिस्थिति के प्रतिकूल, व्यवहार नय का सत्तानाश करके ससारी जीव का जीवन शरीर और आयु से रहित मान लिया जाय, तो न कोई हिंसा रहती है और न कोई अहिंसा रहती है। फिर न दिव्यध्वनि आवश्यक है और न किसी ग्रन्थ के प्रवचन, उपदेश, स्वाध्याय, देव दर्शन, पूजन की आवश्यकता है।

शरीर के विना संसारी आत्मा भी संसार में अन्धा, बहरा, गूंगा, लूला, लंगडा, अमनस्क (असंज्ञी) होकर पत्थर की तरह जहाँ का तहा पडा रहेगा।

जीव तो मुक्त होने के पश्चात् स्वतन्त्र होता है, संसारी-अवस्था में वह स्वाधीन है कहाँ? शरीर का कारावास (जेल) और कर्म-बन्धन की बेडियाँ उसे सदा पराधीन बनाये रखती हैं। संसारी का जीवन भी सर्वथा स्वाधीन नही। कीड़े-मकोडे, जलचर, थलचर, नभचर जीवो का जीवन प्रतिदिन शिकारियो तथा माँस-भक्षियो द्वारा असमय मे समाप्त होता रहता है।

यदि संसारी जीवो को अन्य जीव आयु-समाप्ति से पहले न मार सकें, तो गौशाला, औषधालय, पिंजरापोल, चिकित्सालय (अस्पताल), औषध-उपचार आदि सब बाते व्यर्थ हो जावेंगी। छोटे बच्चे को उसकी माता दूध न पिलावे तो बच्चा जी नही सकता। ऐसे हजारो अवैध (विधवाओं तथा कुमारी कन्याओ से हराम से उत्पन्न हुए) बच्चे पाप छिपाने के लिए जहाँ-तहाँ छोड दिये जाते हैं, जो कि भूख, शीत, आतप

आदि से मर जाते हैं। यदि वैसे छोड़े हुए बच्चे को कोई व्यक्ति दया करके पाल लेता है तो वह बच भी जाता है।

इसलिये अन्य निर्बल जीवो को मारने या मृत्यु से बचाने का प्रयत्न किया जाता है।

आधार

मोक्षमार्ग प्रकाशक में पृ० ३३२ पर प० टोडरमल जी ने मिथ्या-दृष्टि को लक्ष्य करके मारने, बचाने का अध्यवसान (मिथ्यात्व रूप अभिमान कषाय) छुडाने के अभिप्राय से लिखा है। मोक्षमार्ग प्रकाशक अधूरा ग्रन्थ है। उसमें प्रथम ही सम्यग्दर्शन का प्रकरण लेकर लिखा गया है, वह भी पूर्ण नही हो सका। अतः उसमें आचरण-सम्बन्धी बातों पर ग्रन्थकार विवेचन नही करने पाये। यदि वे चारित्र का प्रकरण भी पूरा लिख देते तो मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ हिंसा-अहिंसा आदि के निर्णय के लिए रखना उचित था।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की टीका में गुणस्थान-क्रम से बन्ध-व्युच्छित्ति बताते हुए श्री प० टोडरमल जी ने स्वय पुण्य भाव वाले पाचवें छठे गुणस्थान में कर्मों का सवर होना लिखा है। तदनुसार मोक्षमार्ग प्रकाशक के ७ वें अध्याय में उन ही प० टोडरमल जी ने जो अहिंसा आदि पाँचवें छठे गुणस्थान के चारित्र को केवल बध का कारण कहा है उन दोनो कथनो मे परस्पर विरोध आता है। अतः मोक्षमार्ग प्रकाशक के कथन को चारित्र के विषय में साक्षी रूप से उपस्थित करना उचित नही।

तथा मोक्षमार्ग प्रकाश का दिया गया आधार मिथ्यादृष्टि जीव-सम्बन्धित उल्लेख का है, इस कारण भी उसे साक्षी मे न रखना चाहिये।

इसके सिवाय पुण्य रूप सराग-सयम से श्री प० टोडरमल जी ने

मोक्षमार्ग प्रकाश में पुण्य भाव से संवर, निर्जरा होना भी पृ० ३३४ तथा ३४० पर लिखा है—

ताका समाधान—यह भाव (पुण्य) मिश्ररूप है, किछू वीत-राग भया है किछू सराग रहता है। जे अंश वीतराग भए तिन करि सवर है। अर जे अंश सराग रहे तिन करि बंध है। ।।पृ० ३३४।।

स्तोक शुद्धता भए शुभोपयोग का भी अंश रहै, तो जेती शुद्धता भई ताकरि तो निर्जरा है अर जेता शुभ भाव है ताकरि बंध है ऐसा मिश्रभाव युगपत् हो है, तहाँ बंध वा निर्जरा दोऊ हो हैं ।।पृ० ३४०।।

२—समयसार की जो २५४-२५५-२५६ न० की गाथाओं का आधार दिया है, उस विषय में यह कहना है कि प० वंशीधर जी के द्वारा उद्धृत समयसार के इस प्रमाण को यदि श्री कहान जी स्वामी हृदय से सत्य मानते हैं, तब उन्हे जीवो के सुखी दुखी होने मे कर्म को निमित्त कारण मान लेना चाहिये जिसको कि वे मानते नही है, जैसा कि उनके इसी ट्रैक्ट के १४ वें कथन से स्पष्ट है।

जीवों के सुखी दुःखी होने मे साता असाता वेदनीय कर्म का उदय अन्तरग निमित्त कारण है, जिसका विधान अध्यवसान छुड़ाने के अभि-प्राय से इन गाथाओं मे ग्रन्थकार ने किया है। बहिरंग निमित्त कारण उपकारी दयालु मनुष्य (किसी जीव को मरते समय बचाने मे) तथा दुष्ट शिकारी आदि (किसी जीव को सताने मारने आदि में) का उल्लेख इन गाथाओं मे नही है। कर्मों का उदय व उदीरणा भी तो वाह्य द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव के निमित्त से होती है। (सर्वार्थसिद्धि ९-३६)

समयसार गाथा ४६ की टीका मे श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने लिखा है—

व्यवहार के बिना हिंसा का अभाव ठहरेगा और हिंसा के अभाव में वध के अभाव का प्रसग आ जाएगा। क्योंकि निश्चय नय से शरीर से जीव को भिन्न मान लेने पर, जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है, उसी प्रकार, त्रस स्थावर जीवों को निःशंकतया मसल देने से, कुचल देने में भी हिंसा नहीं होगी। वन्ध के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जायगा। अतः यह मानना ही चाहिए कि त्रस स्थावर जीवों के मारने में हिंसा होती है।

प्रकरण अनुसार समयसार-कार श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी चारित्र पाहुड़, नियमसार आदि ग्रन्थो मे दया, अहिंसा के द्वारा जीवो की रक्षा करने का विधान किया ही है ।

अतः ये दोनो आधार 'जीयो और जीने दो' के विरुद्ध नहीं हैं।

तेरहवीं वार्ता

मन वचन काय की क्रिया

ससारी जीव जिसतरह अनादि कालसे कर्मवन्धन से बद्ध वना रहता है, इसी तरह वह तैजस नामक एक सूक्ष्म शरीर से भी सयुक्त (सहित) रहता है। ये कार्माण और तैजस सूक्ष्म शरीर तो आत्मा के साथ सदा लगे ही रहते है। (अनादिसम्बन्धे च। तत्वार्थसूत्र २-४१)

किन्तु कर्म-उदय-वश ससारी जीव को जब नारकी या देव पर्याय मिलती है तब इस कार्माण तैजसमय ससारी जीव को रहने के लिये विविध प्रकार की (छोटा बडा, दृश्य अदृश्य, हलका भारी आदि रूप) विक्रिया करने मे समर्थ वैक्रियिक शरीर मिलता है और जब इसको

मनुष्य तथा तिर्यञ्च (स्थावर, त्रस जीव रूप कीडे मकोडे, जलचर, थलचर, नभचर, पशु पक्षियों की) पर्याय मिलती है, तब उस तैजस कार्माण सूक्ष्म शरीरमय जीव को रहने के लिये रक्त, हड्डी, मांसमय (स्थावर जीवो के शरीर में केवल रस होता है, रक्त, हड्डी, मांस नही होता) औदारिक शरीर मिलता है।

इन औदारिक और वैक्रियिक शरीरो में जीव को आने जाने, करने धरने रूप हाथ पर आदि काम करने वाले अंग उपांग वाला शरीर मिलता है, बोलने की शक्ति-सम्पन्न मुख-जीभ आदि अग प्राप्त होते हैं और सोचने विचारने की शक्ति में सहायक कमलाकार द्रव्य मन मिलता है। इस तरह स्थावर तथा असैनी पचेन्द्रिय तक तिर्यञ्च जीवो के सिवाय शेष सभी सज्ञी पशु पक्षी आदि तिर्यञ्च जीवो के, मनुष्यों, देवों तथा नारकी जीवो के मन, वचन और शरीर होता है।

आत्मा की योग शक्ति इन तीन साधनों से आत्मा को कम्पित करती रहती है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड मे श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने लिखा है—

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जाहु सत्ती कम्मागमकारण जोगो ॥२१५॥

अर्थ—पुद्गल-विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से मन वचन काय से युक्त जीव की कर्म-आस्रव की कारण-भूत जो शक्ति है, वह योग है।

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—१. योग-शक्ति अशुद्ध आत्मा में है। २. वह योग शक्ति पौद्गलिक मन वचन शरीर के अवलम्बन से कर्म-आस्रव का कार्य करती है।

संज्ञी जीव की शारीरिक, मानसिक और वाचनिक क्रिया के

कारण मन, वचन, काय को भी 'योग' (द्रव्य योग) कहा जाता है। अशुद्ध आत्मा की, शरीर द्वारा चलना फिरना आदि कार्य करने रूप, रसना (जीभ) द्वारा बोलने रूप एवं द्रव्यमन द्वारा विचार करने रूप जो निजी शक्ति है उसका नाम भावमन योग, भाववचन योग और भावकाय योग है।

इस तरह आत्मा को कम्पायमान करते हुए कर्म-आस्रव का करने वाला मन वचन काय योग पौद्गलिक भी है और आत्मीय (आत्मा से सम्बन्धित) भी है।

आत्मा के साथ जब तक मोहनीय कर्म रहता है तब तक आत्मा में विविध प्रकार की इच्छायें, सोच विचार, सकल्प विकल्प होते रहते हैं। तब ही तक पौद्गलिक तीनो योग सक्रिय रहकर भावयोगो को कर्मास्रव में सहायक या आधार बने रहते हैं। जब मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाता है तब द्रव्य मन योग रहता हुआ भी व्यर्थ हो जाता है। इसी कारण तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हन्त भगवान मन द्वारा कुछ नही सोचते, न कोई इच्छा करते हैं किन्तु अपने केवल ज्ञान द्वारा सब कुछ (त्रिलोकवर्ती त्रिकालीन समस्त पदार्थों को) स्पष्ट जानते हैं। परन्तु अनिच्छा—निरीह भाव से द्रव्य वचन योग द्वारा दिव्य-ध्वनि के रूप में बोलते हैं और द्रव्यकाय योग द्वारा अनिच्छा से देशान्तर मे विहार, उठना, बैठना आदि क्रिया भी करते हैं। यानी—सयोग केवली के द्रव्ययोग चिकीर्षा (विचारने, बोलने की इच्छा) रूप नही होते। चौदहवें गुणास्थान में मन वचन काय की क्रिया भी नहीं होती। अतः वहाँ आस्रव भी नही होता।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने स्वयम्भूस्तोत्र मे श्री धर्मनाथ भगवान की स्तुति मे अर्हन्त अवस्था का चित्रण करते हुए लिखा है—

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो, नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।

हे भगवन्! आपके मन वचन की प्रवृत्ति चिकीर्षा (कुछ करने

की इच्छा) रूप से नहीं होती थी।

इस विषय में सोनगढ़ के प्रमुख श्री रामजी भाई दोशी मोक्षशास्त्र तीसरी आवृत्ति पृष्ठ ६५६ मे तथा प्रथम आवृति में पृष्ठ ६७९ पर लिखते है कि—

"मन वचन काय की क्रिया बन्ध का कारण नहीं है।"

तत्वार्थसूत्र की यह टीका तत्वार्थसूत्र के अभिप्राय की पोषक श्री पूज्यपाद, अकलंकदेव आदि आचार्यों की टीका के अनुसार होनी चाहिये। परन्तु श्री रामजी भाई माणेकचन्द दोशी एडवोकेट-कृत यह सोनगढ से प्रकाशित टीका अनेक स्थलो पर न तो उस मूल ग्रन्थ के अनुसार की गई है और न पूर्व आर्ष टीकाओं के अनुसार लिखी गई है, इसमें अपनी कल्पना से विकृत अर्थ किया गया है। निश्चय नय का आश्रय लेकर जैसी अनेक गलतियाँ मूलग्रन्थ के विरुद्ध छहढाला तथा द्रव्यसंग्रह की सोनगढ़ी टीका में की है, वैसी ही गलतियाँ इस तत्वार्थ-सूत्र की टीका में भी हैं।

अभिप्राय रूप से पूर्वोक्त वाक्य तत्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय के दूसरे सूत्र "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः" की टीका में लिखा है।

तत्वार्थसूत्रकार ने छठे अध्याय के प्रथम सूत्र मे कर्म के आस्रव का कारण निर्देश करते हुए लिखा है "कायवाङ्मनःकर्म योगः"। जिसका सरल सीधा अर्थ है कि 'शरीर, वचन और मन की क्रिया द्वारा जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द होता है, वह योग है।' और दूसरे सूत्र (स आस्रवः) के अनुसार वह योग कर्म-आस्रव का कारण है।

इस तरह तत्वार्थसूत्रकार श्री उमास्वाति आचार्य ने मन वचन काय की क्रिया को योग बतलाया है और उस योग को आस्रव का कारण बतलाया है। तीसरे सूत्र में उस योग के दो भेद (शुभ और अशुभ) बतलाये हैं। तदनन्तर चौथे सूत्र (सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्या-

पययो. ।) में आस्रव के दो भेद बतलाये हैं—१ साम्परायिक, २. ईर्यापथ । दशवें गुणस्थान तक कषायसहित जीवो के साम्परायिक आस्रव होता है । जिससे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति अनुभाग, चारो प्रकार का कर्म-बन्ध होता है। और ग्यारहवें, बारहवे तथा तेरहवें गुणस्थानवर्ती कषायरहित आत्माओ के प्रकृति और प्रदेश रूप ईर्यापथ आस्रव होता है ।

तत्वार्थसूत्र सार्थ जिस व्यक्ति ने पढा है वह इन चारो सूत्रो का यह उक्त अभिप्राय अच्छी तरह समझ सकता है।

तदनुसार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्रव्य (पौद्गलिक) मन, वचन, काय की क्रिया १३ वें गुणस्थान तक होती रहती है और उस मन वचन काय की क्रिया (योग) से तेरहवें गुणस्थान तक कर्म-आस्रव तथा कर्म-बन्ध भी हुआ करता है। पहले से दशवें गुणस्थान तक चारो प्रकार का बन्ध होता है और ११-१२-१३ वें गुणस्थान में प्रकृति, प्रदेश रूप दो प्रकार का कर्मबन्ध होता है।

ऐसी दशा में सोनगढ-साहित्य का यह लिखना सिद्धान्त अनुसार गलत है कि—

'मन वचन काय की क्रिया बन्ध का कारण नही है ।' क्योंकि जहाँ तक मन, वचन, काय की क्रिया है, वहाँ तक कर्म-बन्ध होता है।

तत्त्वार्थ सूत्र के आठवें अध्याय का प्रारम्भ करते हुए श्री उमास्वाति आचार्य लिखते हैं—

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कर्म-बन्ध के कारण हैं।

इनमे से ११-१२-१३ वें गुणस्थानो मे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद

और कषाय न होने से केवल द्रव्य मन वचन काय की क्रिया रूप योग के कारण साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य समयसार मे लिखते हैं—

सामण्णपच्चया खलु, चउरो भण्णंति बधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं, कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०६॥

अर्थ—सामान्य रूप से कर्मबन्ध के कारण तथा कर्म के कर्ता मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग (मन वचन काय की क्रिया) ये चार है।

श्री वीरसेन आचार्य धवल सिद्धान्त (पुस्तक ७ पृष्ठ ६) मे लिखते हैं—

मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगा बधकारणाणि।

अर्थ—कर्म-बन्ध के कारण मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग (मन, वचन, काय की क्रिया) है।

इसी प्रकार श्री अमृतचन्द्र सूरि आदि आचार्यों ने भी तत्त्वार्थसार आदि ग्रन्थो मे कर्म-बन्ध का कारण योग (मन-वचन-काय की क्रिया) को भी बतलाया है।

इन आर्ष शास्त्रीय प्रमाणों से सोनगढ़ सिद्धान्त की उक्त वार्ता असत्य प्रमाणित होती है।

आधार

समयसार की गाथा १०६ में श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कर्म-बन्ध के कारणों में कषाय की तरह योग (मन-वचन-काय की क्रिया) को भी बतलाया है। तदनुसार ११-१२-१३ वें गुणस्थान में साता वेदनीय कर्म का एक समयस्थितिक बन्ध केवल द्रव्य-मन, वचन, काय की क्रिया से होता है।

उसी समयसार में उन ही श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने २३७ से २४१ तक की गाथाओ में कषायो की मुख्यता से स्थिति अनुभाग सहित कर्म-बन्ध का वर्णन किया है। इस तरह यह केवल गौण मुख्य विवक्षा का भेद है, सिद्धान्त-भेद नही है। इन गाथाओ में आचार्य ने मिथ्यात्व, का भी नाम नही लिया, तो इससे क्या प० वशीधर जी यह अभिप्राय निकालेंगे कि श्री कुन्दकुन्द आचार्य मिथ्यात्व को कर्म बन्ध का कारण नही मानते थे ? अत. यह शास्त्राधार सोनगढ के सिद्धान्त की गलत मान्यता का निराधार है।

श्री प० टोडरमल जी ने मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा गुप्ति का निषेध किया है, सो ठीक है। द्रव्यलिङ्गी मुनि यदि मिथ्यादृष्टि हो, तो उसके यथार्थ गुप्ति नही होती। परन्तु छठे सातवें गुणस्थानीय भेद-विज्ञानी मुनि के तो गुप्ति यथार्थ होती है। प० टोडरमल जी ने उस भावलिंगी मुनि की गुप्ति से कर्म सवर होने का निषेध नही किया। और न उन्होंने केवल मन, वचन काय की क्रिया से ११-१२-१३ वें गुणस्थान में होने वाले साता वेदनीय कर्म के आस्रव बन्ध का निषेध किया है।

अत मोक्षमार्ग प्रकाशक वास्तव में सोनगढ के गलत सिद्धान्त का आधार नही बन सकता।

चौदहवीं वार्ता

आत्मा में विकार का कारण

जल स्वभाव से शीतल और द्रव (पतला, बहने वाला, लिक्विड) होता है। यदि उसको अन्य पदार्थ का संयोग न मिले तो वह अपने उसी शीतल, द्रव-स्वभाव में रहता है। जैसे गहरे स्रोत वाले कुओं में बना रहता है। परन्तु उस जल को अग्नि का या प्रखर (बहुत तीव्र) सूर्य की किरणों का संयोग मिल जावे तो वह जल अपना शीतल स्वभाव छोड़ कर गर्म हो जाता है। यदि उस गर्म जल से अग्नि या सूर्य की किरणों का संयोग हटा दिया जावे तो वही जल फिर ठंडा हो जाता है।

यदि उस जल से अग्नि का संयोग दूर न किया जावे तो वही जल अपनी जल पर्याय छोड़ कर भाप बनकर आकाश में ऊँचा उड़ जाता है और वहां पर बादल बन जाता है। गर्मियों के दिनों में छोटी नदियों का तथा तालाबों का जल भाप बन कर बादल बन जाता है, जो कि वर्षा ऋतु में पानी बन कर बरसता है।

यदि उस जल को अधिक ठंडक का संयोग मिले तो वही जल जम कर बर्फ बन जाता है। तब उसका द्रव-रूप (लिक्विड, पतला, बहने वाला), थोडा ठंडा स्पर्श बदल कर अधिक ठण्डा, कड़ा रूप हो जाता है, जैसे कि हिमालय पर्वत तथा आल्प्स पर्वत की चोटियो पर होता है। बर्फ के कारखानों में ऐमोनिया गैस के संयोग से जल को बर्फ रूप में बनाया जाता है।

प्रवचनसार की गाथा २७० की टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते है—

"यतः परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चि.सगतं तोयमिवा-वश्यम्भाविविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात्। ततो दु:खमोक्षार्थिना गुणैः समोऽधिको वा श्रमण श्रमणेन नित्य मेवाधिवसनीय ।"

अर्थ—क्योकि आत्मा परिणमन स्वभाव वाला है, इस कारण जैसे अग्नि के सम्पर्क से स्वभावत शीतल जल अवश्य गर्म हो जाता है, उसी प्रकार लौकिक (असंयमी ससारी) मनुष्यो की संगति से संयमी साधु भी असंयमी हो जायगा। इसलिए ससार दुख से छूटने के इच्छुक मुनि को अपने समान मुनि के साथ अथवा अपने से अधिक गुणी मुनि के साथ सदा रहना चाहिये।

इसी तरह, आत्मा स्वभाव से शान्त, शुद्ध, चैतन्य-आनन्द स्वरूप है, यदि उसके साथ अन्य द्रव्य का बध (परस्पर प्रवेशानुप्रवेश रूप गाढ श्लेष) नही होता तो उसके शुद्ध स्वरूप में कोई विकार नही आता जैसे कि मुक्त जीव सदा अपने शुद्ध स्वरूप में रहते हैं।

परन्तु ससारी जीव कभी अपने शुद्ध स्वरूप नही रहा क्योकि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय दो के सूत्र 'अनादिसम्बन्धे' च ।४१' के अनुसार ससारी आत्मा को अनादि काल (अनन्त भूतकाल) से पौद्गलिक तैजस कार्मण शरीरो का सम्बन्ध (बंध) है। इस कारण ससारी आत्मा सदा से विकारी (मिश्रित, कर्म-सयुक्त) बना हुआ है। उसके ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, बल आदि गुण अशुद्ध-विकृत बने हुए हैं। उसकी स्वतंत्रता, शान्ति छिन्न-भिन्न हो गई है, जन्म, मरण के चक्र में पड कर वह चतुर्गति रूप पर्यायो में विविध प्रकार के शरीर धारण करके बहुरूपिया की तरह ससार में दीन, हीन बना हुआ घूम रहा है।

जैसे न्यारिया खोटे सोने को सुहागे के सयोग से आग पर गलाता है, फिर उसमे चादी मिलाकर उसे तेजाब में डालता है, तब उस सोने में चादी, ताम्बे, मैल आदि का मिश्रण दूर होकर सोने का शुद्ध स्वरूप हो जाता है। इसी तरह भव्य संसारी आत्मा सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान

तथा सम्यक् आचार के प्रयोग से सम्यक् तप (आचार का ही एक विशेष भेद) मे अपने आपको तपाता है तब उसका पर-द्रव्य—पौद्गलिक द्रव्यकर्म (ज्ञानावरण मोहनीय आदि), नोकर्म (औदारिक आदि शरीर) तथा भाव-कर्म (अपने विकृत भाव—राग द्वेष) का विकार दूर होकर शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख, बल, अजर, अमर, अजन्मा रूप प्रगट होता है।

ससारी आत्मा मे विकृत होने की पर्याय-शक्ति है और कार्माण पुद्गल द्रव्य मे विकृत करने की शक्ति है। ससारी आत्मा में कार्माण द्रव्य को आकर्षण करने की शक्ति (योग) है, और कार्माणद्रव्य मे आकर्षित होने की शक्ति है। तदनुसार कार्माण स्कन्ध प्रति-समय आकर्षित होकर ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म रूप बनते रहते हैं और आत्मा के भावों को विकृत किया करते हैं, उदय होकर (अपना फल देकर) प्रति समय झडते भी रहते हैं।

अभव्य ससारी जीव मे शुद्ध होने की शक्ति स्वाभाविक रूप से नहीं होती, अत: वह बेचारा सदा संसारी ही बना रहता है, कभी शुद्ध-बुद्ध, मुक्त, स्वतन्त्र नही हो पाता। जैसे बन्ध्या स्त्री कभी भी गर्भवती नहीं होती।

अभागे दूरातिदूर भव्य भी अनन्तो हैं जिन बेचारों को शुद्ध होने की शक्ति (भव्यता) रहते हुए भी योग्य बाह्य कारण न हीं मिलते. अतः अनन्त काल तक वे ससारी ही बने रहेगे, जैसे कि सती बाल-विधवा कुलीन महिला गर्भवती होने की शक्ति-शालिनी होते हुए भी पति-प्रसग न मिलने से गर्भवती नही हो पाती।

इस तरह मोहनीय आदि कर्मो के उदय से राग द्वेष आदि भाव कर्म होते है और भाव कर्मो से मोहनीय आदि द्रव्यकर्मों का बन्ध होता है, इस तरह बीज वृक्ष के समान द्रव्यकर्म और भावकर्म की परम्परा चलती रहती है।

आत्मा के कर्म-तन्त्र होकर पराधीनता से ससार-भ्रमण का यह संक्षेप सार है, जो कि विस्तार के साथ कसायपाहुड, जयधवल, गोम्मटसार आदि आर्ष ग्रन्थो मे लिखा हुआ है।

इस पर भी कहान जी स्वामी अपने समय-सार-प्रवचन भाग १ पृष्ठ ६६ पर लिखते हैं—

'आत्मा मे कर्मों से विकार नही होता।'

इसके लिये आप हेतु देते हैं—

"जड़कर्म बलात् विकार नहीं करा सकते किन्तु स्वयं (आत्मा) अपने को भूलकर पुद्गल प्रदेशों में स्थित हो रहा है। राग द्वारा स्वयं परावलम्बी भाव करता है।"

यद्यपि यह ठीक है कि यदि आत्मा के राग द्वेष आदि विकृत भाव न हो तो द्रव्यकर्म का बन्ध न हो, परन्तु इसके साथ यह भी तो सोलह आने सत्य बात है कि द्रव्यकर्म बलात् आत्मा को नरक निगोद आदि दुर्गतियों मे भेजते हैं। ऐसा कोई भी वज्रमूर्ख जीव नही, जो स्वय नरक निगोद में जाना चाहे। परन्तु कर्म जीव को बलात् (जबरदस्ती) धकेल कर नरक निगोद मे ले जाते हैं। उन पर्यायो के अनुसार आत्मा के अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान, श्वास के अठारहवें भाग में जन्म, मरण आदि ज्ञानावरण, आयु, अपर्याप्त नामकर्म, असाता वेदनीय आदि कर्मों के उदय से होते हैं।

आत्मा का राग द्वेष मोह आदि कोई भी विकृत भाव मोहनीय आदि द्रव्यकर्म के उदय के विना नहीं होता, न हो सकता है। क्योकि आत्मा में विकार उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम आदि सभी भाव, कर्म के उदय से होने वाले औदयिक भाव है। तब यह कैसे हो सकता है कि—

'आत्मा में कर्मों से विकार नही होता।'

श्री पं० वंशीधर जी ने शास्त्री कलकत्ता भी इस सिद्धान्त-विरुद्ध गलत बात का समर्थन कर रहे हैं। इसमें आप 'माता मे बन्ध्या' कहने के समान श्री जयसेनाचार्य कृत प्रवचनसार की टीका का प्रमाण देते हैं—

औदयिका भावाः बन्धकारणम् । १-४५

जिसका सीधा अर्थ है—आत्मा के औदयिक (मोहनीय आदि कर्म के उदय से होने वाले) भाव बन्ध के कारण हैं।

श्री पं० वशीधर जी ने 'औदयिक' शब्द का भाव या तो समझा नही है या समझ कर भी गलत समर्थन करने के आवेश में आप गलती कर गये हैं।

दूसरा आधार आपने पं० वनारसीदास जी कृत समयसार नाटक का दिया है। इसके लिये आप श्री कुन्दकुन्द आचार्य के मूल समयसार ग्रन्थ की निम्नलिखित गाथाओ का अवलोकन करके अपनी भ्रान्ति दूर करने की कृपा करें।

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥ १६१॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाण जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥

अर्थ—सम्यक्त्व गुण का घात मिथ्यात्व कर्म करता है, उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

ज्ञान का आवरण ज्ञानावरण कर्म करता है, ज्ञानावरण कर्म के उदय से आत्मा अज्ञानी होता है, ऐसा जिनवर देव ने कहा है।

आत्मा के चारित्र गुण का प्रतिबन्ध कषाय नामक मोहनीय

करता है। कषाय के उदय से आत्मा असंयमी होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

आऊक्ष्येण जीवदि·········॥२५२॥

अर्थ— ससारी आत्मा आयु कर्म के उदय से जीवित रहता है।

आउक्खयेण मरणं·——॥२४८॥

अर्थ—आयु कर्म के क्षय से आत्मा का मरण होता है।

कम्म णाम समक्ख सभाव मघअप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि॥११७॥

(प्रवचनसार)

अर्थ—नाम कर्म अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव का तिरस्कार करके जीव को मनुष्य तिर्यंच नारक अथवा देव बनाता है।

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि॥११८॥

(प्रवचनसार)

अर्थ—मनुष्य नारक तिर्यंच और देव रूप जीव को वास्तव में नाम कर्म निष्पन्न करता है। वास्तव में वे अपने कर्म रूप से परिणमित होते हैं इसलिये उनको स्वभाव की उपलब्धि नही होती।

जब जिनेन्द्र भगवान पर, उनकी वाणी पर, श्री कुन्दकुन्द आचार्य पर और उनके समयसार, प्रवचनसार ग्रन्थ पर सोनगढ़ के नेताओ को श्रद्धा है, उनके अनुयायियो को तथा श्री प० वशीधर जी को श्रद्धा है तो उसके विरुद्ध व गलत प्रतिपादन क्यो करते हैं ?

श्री कुन्दकुन्द आचार्य श्री १००८ सीमन्धर तीर्थंकर की वाणी से उपलब्ध श्रुत के अनुसार कहते हैं कि आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान, असयम, जन्म, मरण स्वयं अपनी योग्यता से (अकारण) नही होते, आत्मा में यह सब विकार मिथ्यात्व, ज्ञानावरण, चारित्र मोहनीय, आयु कर्म के उदय और अस्त होने के निमित्त से होते हैं। तब आप

इस सत्य का क्यों अपलाप करते हैं ?

इस तरह सोनगढ सिद्धान्त की यह बात भी आगम-विरुद्ध है ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है—

वंधं पडि एयत्तं, लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं ।

यानी—आत्मा और कर्म मे बन्धन के कारण एकता है और लक्षण की अपेक्षा उन दोनो में अनेकता है ।

श्री पूज्यपाद आचार्य इष्टोपदेश में कहते हैं—

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभाव लभते न हि ।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ।।७।।

अर्थ—मोह से ढका हुआ ज्ञान अपने स्वभाव को प्राप्त नही करता, जैसे नशीले कोदों के नशे से मनुष्य पदार्थों को ठीक नही ज्ञान पाता ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य समयसार में लिखते हैं—

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमादीहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहि दोसेहिं ।।२७९।।

अर्थ—इस प्रकार (स्फटिक माणि के समान) शुद्ध ज्ञानी स्वय (अपने आप) राग द्वेष आदि रूप परिणमन नही करता किन्तु पर-पदार्थ रूप राग आदि कर्मों के सग से (प्रभाव से) राग द्वेष आदि रूप परिणमन करता है ।

तीसरा आधार आपने पचास्तिकाय ग्रन्थ की ६२ वी गाथा का दिया है सो इसके उत्तर मे पं० वशीधर जी उन ही पचास्तिकायकार श्री कुन्दकुन्द आचार्य-रचित समयसार की निम्नलिखित गाथाओं का भी टीका सहित अवलोकन करें—

जह सिप्पिओ उ कम्म कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ।।३४९।।

जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणेहि कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥३५०॥
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिण्हइ ण सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ ण य तम्मओ होइ ॥३५१॥
जह सिप्पि उ कम्मफल भुंजइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो कम्मफल भुंजइ ण य सो तम्मओ होइ ॥३५२॥
एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु ज होई ॥३५३॥
जह सिप्पिओ उ चिट्ठ कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से ।
तह जीवोविय कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥३५४॥
जह चिट्ठ कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई ।
तत्तोसिया अणण्णो तह चिट्ठंतो दुही जीवो ॥३५५॥

अर्थ—जैसे सुनार आदि कारीगर सोने के आभूषण आदि करता है, यानी—बनाता है परन्तु वह स्वयआ भूषण रूप नहीं हो जाता। जैसे सुनार हाथ आदि द्वारा हथोडा आदि औजारो से भूषण बनाता है और उस परिश्रम से दुखी होता है तथा आभूपणो द्वारा धन आदि सुख सामग्री पाकर सुखमय फल भोगता है। परन्तु वह उन हथोड़ा आदि रूप नही हो जाता। इसलिये वह निमित्त नैमित्तक रूप से भिन्न कर्ता, कर्म, करण, भोक्ता होता है, इसी तरह जीव भी पुण्य पाप रूप पुद्गल कर्मों को करता है, मन वचन काय रूप करणो द्वारा पोद्गलिक मन वचन काय रूप करणो को ग्रहण करता है और पौद्-गलिक कर्मो के फलो को भोगता है, परन्तु वह उन पोद्गलिक करणों, कर्मों रूप नही हो जाता। निमित्त नैमित्तिक भाव से कर्ता, कर्म, करण, भोक्ता, भोग्य व्ययहार है।

जिस तरह सुनार अपने आत्म-परिणामो का कर्ता, कर्म, करण भोक्ता है अत. उन परिणामो से अनन्य है इसी तरह आत्मा भी अपने

परिणामों का कर्ता, कर्म, करण भोक्ता आदि है, अतः उन परिणामों से अनन्य है।

इस तरह श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार में व्यवहार नय से आत्मा मे पर-पदार्थ रूप भी कर्ता, कर्म, करण आदि छह कारक बतलाये हैं और निश्चय नय से अपने आत्मा मे भी अनन्य रूप से समस्त कारको का निरूपण किया है।

इसी प्रकार श्री नेमिचन्द्र आचार्य ने भी द्रव्यसंग्रह में—

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता, ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्मणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥
ववहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
चेदणकम्माणादा, चेदणभावं खु आदस्स ॥९॥

गाथाओं द्वारा उन ही भिन्न तथा अभिन्न कारको का समर्थन किया है।

जिस तरह निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा में छहों कारक अभिन्न अनन्य रूप से सिद्ध होते हैं और वे उस दृष्टि से यथार्थ हैं। ठीक, उसी तरह व्यवहार नय से आत्मा भिन्न छह कारकों के रूप में भी कर्ता आदि है और वह भी यथार्थ है।

दिव्य-ध्वनि पर-पदार्थ है परन्तु शुद्ध बुद्ध अर्हन्त भगवान उसके अनिच्छा रूप में भी कर्ता हैं ही।

श्री कहान जी स्वामी समयसार-प्रवचन के तथा पं० वंशीधर जी उस ट्रैक्ट के कर्ता हैं या नहीं ?

इस तरह यह तीसरा आधार भी निराधार है। अतः सोनगढ़ मान्यता आगम-विरुद्ध है।

सोलहवीं वार्ता

रत्नत्रय

आत्मा को कर्म-बन्धन से जकड़ कर संसार मे भ्रमण कराने वाले भावकर्म मिथ्यात्व, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। आत्मा जब अपने पुरुषार्थ से मोहनीय कर्म पर यथासम्भव विजय प्राप्त करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करता है। तब यथासम्भव गुणस्थान क्रम से अपने पूर्वबद्ध कर्मों की अविपाक निर्जरा करना प्रारम्भ कर देता है तथा मिथ्यात्व-अज्ञान-असयम से होने वाले कर्म-आस्रव पर यथासम्भव प्रतिबन्ध लगाकर कर्मसंवर करना प्रारम्भ कर देता है।

सत् श्रद्धान, सत्ज्ञान और सच्चारित्र आत्मा के महान गुण हैं, धर्म रूप हैं (सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदु.। रत्न क० श्रा०) तथा आत्मा का परम अभ्युदय करने वाले हैं, आत्म-शुद्धि करने वाले हैं, अतः इनको 'रत्नत्रय' यानी—आत्मा के 'तीन रत्न कहा जाता है। इसी रत्नत्रय को 'मोक्षमार्ग' भी कहते हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि होते ही मोक्ष का मार्ग (रास्ता); कर्मों का संवर और निर्जरा प्रारम्भ हो जाने के कारण, प्रारम्भ हो जाता है।

यह मोक्षमार्ग समस्त आर्ष ग्रन्थों में दो प्रकार का बतलाया गया है—१. निश्चय मोक्षमार्ग, २. व्यवहार मोक्षमार्ग।

मोहनीय कर्म के कुछ भाग के उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने से और कुछ भाग के विद्यमान रहने से आत्मा मे जो सराग सम्यक्दर्शन, सराग सम्यग्ज्ञान, सराग सम्यक्चारित्र होता है, वह पाचवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक का सम्यक्त्व, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व्यवहार मोक्षमार्ग है। (चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व और सम्यक्ज्ञान होता है।

पांचवें गुणस्थान में सम्यक्त्व, ज्ञान और देशचारित्र होता है। छठे गुणस्थान से सम्यक्त्व, ज्ञान के साथ सकलचारित्र यानी-महाव्रती चारित्र प्रारम्भ हो जाता है)।

दशवें गुणस्थान का सूक्ष्म राग रूप सूक्ष्म संज्वलन लोभ भी जब अस्त हो जाता है तो वही व्यवहार मोक्षमार्ग ग्यारहवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्तमोह और बारहवें क्षीण-कषाय गुणस्थान में सदा के लिए 'वीतराग मोक्षमार्ग' (सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र) हो जाता है तथा तेरहवें गुणस्थान में केवल-ज्ञान का उदय हो जाने पर आत्मा के तीनों रत्न सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पूर्ण हो जाते हैं।

कुछ आचार्यों के मत से व्यक्त राग की अपेक्षा पांचवें, छठे, सातवें, गुणस्थान का एक देश (श्रावक का) तथा सकलदेश (मुनिका) चारित्र सराग चारित्र यानी—व्यवहार-चारित्र है। अव्यक्त राग की अपेक्षा आठवें गुणस्थान से शुद्धोपयोग रूप निश्चय चारित्र प्रारम्भ हो जाता है, जो कि गुणस्थान-क्रम से बढ़ता हुआ क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होता है। तेरहवें सयोग-केवली गुणस्थान मे ज्ञान पूर्ण हो जाने से रत्नत्रय पूर्ण हो जाता है।

छठे गुणस्थान से आगे आयु कर्म की उदीरणा नहीं होती। तदनुसार अवशिष्ट आयु तक पूर्ण रत्नत्रयधारी आत्मा (अर्हन्त) को तेरहवें गुणस्थान मे रहना पड़ता है। आयु के अन्तिम काल मे पांच ह्रस्व अक्षर (अ इ उ ऋ लृ) के उच्चारण समय तक योग-निरोध करके चौदहवां गुणस्थान होता है, तदनन्तर सर्व कर्म, नोकर्म से मुक्त होकर आत्मा सिद्ध बन जाता है।

इस तरह व्यवहार (रत्नत्रय) साधन है और निश्चय रत्नत्रय (मोक्षमार्ग) साध्य है। साधन द्वारा साध्य की सिद्धि होती है। इस

नियम के अनुसार व्यवहार रत्नत्रय पहले होता है और निश्चय रत्नत्रय उसके पश्चात् होता है ।

यदि व्यवहार रत्नत्रयधारी मुनि उस भव मे सातवें गुणस्थान से क्षपक श्रेणी द्वारा या उपशम श्रेणी द्वारा ऊपर न चढ सके, शुक्ल-ध्यान उसके न हो पावे, धर्मध्यान तक ही रहे, तो उस भव में व्यवहार रत्नत्रय ही बना रहगा, निश्चय रत्नत्रय उसके न होगा। निश्चय रत्न-त्रय अन्य किसी भव में उसके होगा । तब वह मुक्त होगा ।

इस आर्ष सिद्धान्त के विरुद्ध सोनगढ के प्रकाशित तत्वार्थसूत्र, द्रव्यसंग्रह, छहढाला की टीका आदि साहित्य में व्यवहार रत्नत्रय को निश्चय रत्नत्रय का साधन नही बतलाया गया है ।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने तत्वार्थसार के उपसहार में लिखा है—

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२॥

अर्थ—मोक्षमार्ग दो प्रकार का है—१. निश्चय मोक्षमार्ग, २. व्यवहार मोक्षमार्ग । उनमें से निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है ।

छहढाला मे प० दौलतराम जी ने लिखा है—

सम्यक्दर्शन ज्ञान चरण शिव-मग सो दुविधि विचारो।
जो सत्यार्थ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो॥

अर्थ —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, यह मोक्षमार्ग है। वह मोक्षमार्ग दो प्रकार का है—निश्चय और व्यवहार । जो सत्यार्थ रूप है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है और जो उस निश्चय मोक्षमार्ग का कारण है सो व्यवहार मोक्षमार्ग है ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पचास्तिकाय में लिखा है—

धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
चेट्ठा तवम्हि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६०॥

अर्थ—धर्म आदि द्रव्यों (तत्वों पदार्थों आदि) का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, अग पूर्व आदि का बोध होना सम्यग्ज्ञान है और तप संयम आदि का करना सम्यक्चारित्र है, यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

'व्यवहारनयमाश्रित्यानुगम्यमानो मोक्षमार्गः······निश्चय-मोक्षमार्गस्य साधनभावमापद्यते इति।'

अर्थ—व्यवहार नय का आश्रय करके यह (व्यवहार) मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधन बनता है।

तदनन्तर लिखा है—

णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६१॥

अर्थ—निश्चयनय से उन तीनो (सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र) से सम्पन्न आत्मा ही मोक्षमार्ग है, जो (निश्चय मोक्षमार्गी) आत्मा न कुछ करता है, न छोड़ता है।

इस गाथा की टीका के अन्त में श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं—

'अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्न इति।'

अर्थ—इसलिए निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग में क्रम से साध्य साधन भाव अच्छी तरह से प्राप्त होता है। यानी—निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है।

पंचास्तिकाय गाथा १५९ की टीका में श्री अमृतचन्द आचार्य ने लिखा है—

निश्चयव्यवहारयोः साध्य-साधनभावत्वात् सुवर्णसुवर्ण-पाषाणवत्।"

अर्थ—निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग का सुवर्ण तथा सुवर्ण-

पाषाण के समान साध्य साधन भाव है।

द्रव्य संग्रह गाथा ३६ की टीका में भी लिखा है—

धातुपाषाणेऽग्निवत्साधको व्यवहारमोक्षमार्गः सुवर्णस्थानीय-निर्विकारस्वोपलब्धिसाध्यरूपो निश्चयमोक्षमार्ग.।

अर्थ—सुवर्णपाषाण मे उस को शुद्ध करने के लिये अग्नि के समान व्यवहार मोक्षमार्ग, निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है और अग्नि-प्रयोग से पत्थर में से निकाले गये शुद्ध सुवर्ण के समान निर्विकार स्व—आत्मा की उपलब्धि रूप साध्य निश्चय-मोक्षमार्ग है।

इस तरह समस्त आगम ग्रन्थों से यह सिद्ध होता है कि व्यवहार रत्नत्रय साधन या साधक है और निश्चय रत्नत्रय साध्य है। व्यवहार रत्नत्रय पहले होता है और निश्चय रत्नत्रय उससे पीछे होता है।

सोनगढ़—साहित्य

सोनगढ़ साहित्य की मान्यता उक्त आर्ष-सिद्धांत के विपरीत है। सोनगढ से प्रकाशित मोक्षशास्त्र (तत्वार्थसूत्र) की टीका के पृष्ठ १२३ पर लिखा है—

"प्रथम जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब विकल्प रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन का अभाव होता है। इसलिए यह व्यवहार सम्यग्दर्शन का वास्तव में निश्चय सम्यग्दर्शन साधक नहीं है, तथापि उसे भूतनैगम नय से साधक कहा जाता है। अर्थात् पहले जो व्यवहार सम्यग्दर्शन था वह निश्चय सम्यग्दर्शन के प्रकट होते समय अभाव रूप होता है तब पूर्व की सविकल्प श्रद्धा को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है इस प्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण नहीं किन्तु उसका अभाव कारण है।"

सोनगढ साहित्य का यह लिखना अपनी निजी निराधार गलत, कल्पना है जिसका कोई आगम ग्रन्थ समर्थन नहीं करता।

जब पूर्वोक्त श्री कुन्दकुन्द आचार्य, श्री अमृतचन्द्र सूरि, द्रव्य-संग्रह के टीकाकार, आदि निश्चय रत्नत्रय का साधन; व्यवहार रत्नत्रय को स्पष्ट बतलाते हैं, उसके लिये सुवर्ण-पाषाण और सुवर्ण का दृष्टान्त देते हैं, तब सोनगढ़ का साहित्य कहता है कि 'नहीं, व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण नही है।'

अपनी आगम-विरुद्ध मान्यता के लिए सोनगढ के टीकाकार लिखते हैं—

"व्यवहार सम्यग्दर्शन कारण नहीं है किन्तु निश्चय सम्यक्-दर्शन में उसका (व्यवहार सम्यग्दर्शन का) अभाव कारण है।'

पूर्व पर्याय का नाश होकर ही उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है, यह कार्य-कारण भाव का मूल नियम है। तदनुसार ही समस्त लौकिक तथा आध्यात्मिक कार्य कारण होते हैं।

आटा रोटी का कारण है, किशोर-अवस्था यौवन-अवस्था का कारण है, बीज अपने वृक्ष का कारण है, अर्हन्त-अवस्था सिद्ध-अवस्था को कारण है। कारण-समयसार कार्य-समयसार का कारण है। ये समस्त कार्य-कारण-भाव पूर्व उत्तर-पर्याय रूप हैं।

आटा पर्याय का नाश होकर ही रोटी बनती है, तो क्या आटा रोटी का कारण नहीं है? किशोर-अवस्था (१५-१६ वर्ष की आयु) के समाप्त होने पर यौवन अवस्था आती है, तो क्या किशोरअवस्था यौवन का कारण नही है? बीज गल कर अकुर रूप बनता है, तो क्या बीज अकुर का कारण नहीं है? अर्हन्त अवस्था समाप्त होने पर सिद्ध अवस्था होती है, तो क्या अर्हन्त अवस्था, सिद्ध अवस्था की कारण नही है? कारण समयसार पर्याय का व्यय होकर कार्य-समय सार पर्याय का उत्पाद होता है तो क्या कारण-समयसार, कार्य समयसार का कारण नहीं है?

इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर सर्वजन-सम्मत यही है कि आटा, रोटी

-का कारण है और अर्हन्त-पर्याय सिद्ध-पर्याय का कारण है, कारण-समयसार कार्य-समयसार का कारण है।

कार्योत्पादः क्षयो हेतो—कार्य का उत्पाद पूर्वपर्याय के यानी उपादान कारण के क्षय से होता है।

इससे, 'व्यवहार-सम्यक्त्व निश्चय-सम्यक्त्व का साधन या साधक नहीं है,' यह आगम-विरुद्ध मान्यता कहाँ प्रमाणित होती है ?

वृहद् द्रव्यसंग्रह की गाथा २२ की टीका मे लिखा है—

केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपेण कार्यसमयसारस्योत्पादो, निर्विकल्पसमाधिरूपकारणसमयसारस्य विनाशः।

अर्थ—केवल ज्ञान आदि प्रगट होने से (अर्हन्त रूप होने से) कार्य समयसार का उत्पाद होता है और निर्विकल्पसमाधिरूप कारण समयसार का विनाश होता है।

आधार

सोनगढ की गलत मान्यता के समर्थन मे जो शास्त्रीय प्रमाण दिये हैं, उनसे भी उस मान्यता की पुष्टि नही होती। देखिये—

१—परमात्म प्रकाश—२-१४ गाथा की टीका में स्पष्ट लिखा है 'भूतनैगमनयेन परम्परया भवति।' यानी—भूतनैगम नय की अपेक्षा से व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय-मोक्षमार्ग का साधक है। गाथा तथा टीका मे व्यवहार रत्नत्रय को परम्परा से मोक्ष का कारण कहा है।

प० वशीधर जी यह बतलावें कि क्या व्यवहार मोक्षमार्ग के पश्चात् निश्चय मोक्षमार्ग नही होता ? क्या उनके बीच में कुछ और भी दशा होती है ?

२—मोक्षमार्ग प्रकाश का जो प्रमाण-उल्लेख किया है, उसको

ने पंक्ति १६ में स्पष्ट लिखा है—

'सो महाव्रतादि भए ही वीतराग चारित्र हो है ।'

मोक्षमार्ग प्रकाश के इस वाक्य से सोनगढ़ सिद्धान्त की मान्यता का खडन होता है ।' क्योकि 'महाव्रतादि होने के पश्चात् ही वीतराग चारित्र होता है ।' यह आगमानुसार बात मोक्षमार्ग प्रकाश मे स्पष्ट लिखी है ।

३—मोक्षमार्ग प्रकाश पृष्ठ ३७६ का अभिप्राय भी सोनगढ़-साहित्यका समर्थक नही है । वहाँ स्पष्ट लिखा है—

"नीचली दशा विषैं केई जीवनिकैं शुभोपयोग अर शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइये है । तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोगकों मोक्षमार्ग कह्या है ।"

(शुभोपयोग शुद्धोपयोग की मिश्रित दशा निश्चय मोक्षमार्ग का कारण है ही ।)

मोक्षमार्ग प्रकाशक के इन वाक्यो का अभिप्राय सोनगढ-सिद्धान्त का खडन करता है ।

"इतना है—शुभोपयोग भये शुद्धोपयोग का यत्न करै तो होय जाय ।' 'सम्यग्दृष्टि कैं शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग प्राप्त होय, ऐसा मुख्यपना करि कहीं शुभोपयोगकों शुद्धोपयोग का कारण भी कहिये है ।" पृष्ठ ३७७ ।

४—द्वादशा-नुप्रेक्षा की गाथा ५९ में व्यवहार, निश्चय मोक्षमार्ग के साधन साध्य भाव के विरुद्ध कुछ भी कथन नही है । इससे सोनगढ़-सिद्धांत का रंचमात्र भी पोषण नही होता ।

५—प्रवचनसार गाथा २४५ मे कोई ऐसी बात नही है जिससे निश्चय, व्यवहार मोक्षमार्ग के साध्य साधन भाव पर प्रहार होता हो । इस गाथा की श्री अमृतचन्द्र सूरि कृत टीका में स्पष्ट लिखा है—

"शुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवाय:। तत: शुभोपयोगिनोऽपि धर्मसद्भावाद् भवेयु: श्रमणा:।"

अर्थ—शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थ समवाय है, इस कारण शुभोपयोगी भी धर्म के सद्भाव से श्रमण होते हैं।

इससे तो उलटा सोनगढ सिद्धान्त का खण्डन होता है क्योंकि सोनगढ के नेता शुभोपयोग को धर्म रूप ही नही मानते ?

प्रवचनसार की गाथा ११ में तथा उसकी टीका में भी शुभोपयोगी को धर्मात्मा कहा है।

६—पंचास्तिकाय की गाथा १६७ तथा १६८ में एवं उसकी टीका में राग का सूक्ष्म अश भी शुद्ध आत्म-स्वरूप का घातक कहा है। सो ठीक है सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान तक आत्मा की पूर्ण शुद्धता नही होती।

पचास्तिकाय गाथा १६७ की तात्पर्य वृत्ति टीका में लिखा है—

"तत कारणात्पूर्वं विषयानुरागं त्यक्त्वा तदनन्तरं गुणस्थान-सोपानक्रमेण रागादिरहितनिजशुद्धात्मनि स्थित्वा चार्हंदादिविषयेऽपि रागस्त्याज्य इत्यभिप्राय:।"

इस में तो यह बतलाया है कि प्रथम विषयानुराग को छोडकर अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय को धारण कर गुणस्थान अनुक्रम से रागादि से रहित अपने आत्मा में स्थित होकर अरहन्त के प्रति भी राग त्याज्य है। इसमें तो छठे सातवें गुणस्थान क्रम से व्यवहार रत्नत्रय द्वारा निश्चय रत्नत्रय प्राप्त करने का विधान है।

७—मोक्षमार्ग प्रकाशक के पृष्ठ ३७६-३७७ का कथन सम्यग्दृष्टि के शुभोपयोग को मोक्षमार्ग स्पष्ट रूप से बतला रहा है। इससे सोनगढ-सिद्धात का खडन होता है।

८. पद्मनन्दि पचविंशतिका अध्याय १ श्लोक ८१ में सम्यग्दृष्टि रत्नत्रय को ससार-विध्वसक और बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिङ्गी)

के बाहरी रत्नत्रय को शुभ अशुभ कर्म-बन्ध का कारण बतलाया है, सो ठीक है।

सम्यग्दृष्टि का व्यवहार रत्नत्रय ही निश्चय रत्नत्रय का साधन बतलाया गया है। बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) का बाहरी (दिखावटी) रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय का साधन नहीं होता।

६. मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३३४ तथा ३४० के निम्नलिखित वाक्यों पर संभवतः प० वंशीधर जी ने ध्यान नहीं दिया।

"यह भाव मिश्र रूप है। किछू वीतराग भाग है, किछू सराग रह्या है। जे अंश वीतराग भए 'तिनकरि संवर' है अर जे अंश सराग रहे तिन करि 'बंध' है। 'सो एक भाव तें दोय कार्य बनें।" (३३४)

"स्तोक शुद्धता भए शुभोपयोग का भी अंश रहे, 'तो जेती शुद्धता भई ताकरि तो निर्जरा है' अर जेता शुभ भाव है 'ताकरि बंध है।' ऐसा मिश्र भाव युगपत् है, 'तहाँ बन्ध वा निर्जरा दोऊ' हैं।" (३४०)

इस विवरण से तो उस सोनगढ़ सिद्धान्त का खण्डन होता है कि 'पाँचवें, छठे गुणस्थान के अणुव्रती महाव्रती व्यवहार चारित्र से केवल आस्रव होता है, संवर निर्जरा नहीं होती।"

जबकि श्री पं० टोडरमल जी ने व्यवहार चारित्र से संवर निर्जरा होना भी स्पष्ट लिखा है।

अतः ये ६ आधार सोनगढ साहित्य के समर्थक नहीं हैं।

इक्कीसवीं वार्ता

महाव्रतों से संवर भी होता है

आत्म-शत्रुओ पर विजय प्राप्त करके अपने आत्मा को पूर्ण शुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार, अजर, अमर, अजन्मा, सर्वज्ञ, वीतराग परमात्मा बनाने वाले जगत्पूज्य महत्तम (सर्व श्रेष्ठ) व्यक्ति को जिनेन्द्र कहते हैं। उस जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले स्त्री पुरुष 'जैन' कहलाते हैं।

सासारिक विषय वासनाओ से विरक्त होकर जिनेन्द्र भगवान के मार्ग का निर्ग्रन्थ (परिग्रह रहित) तपस्वी के रूप में अनुचरण करने वाले 'जैन गुरु' होते हैं। जिनेन्द्र भगवान की वाणी के अनुसार ऋषि मुनि आचार्यो द्वारा लिखे गये प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप ग्रन्थ 'जिनवाणी' कहे जाते हैं।

जो व्यक्ति जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनवाणी पर शुद्ध अटल श्रद्धा रख कर उनकी उपासना करता है, वह 'जैन' कहलाता है। शास्त्रीय भाषा में उसको 'सम्यग्दृष्टि' कहते हैं। श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में धर्म और धर्मात्मा का लक्षण निर्देश करते हुए लिखा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥

अर्थ—सत्श्रद्धा, सत् ज्ञान और सत्चारित्र 'धर्म' है। इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र धर्म नही होते, वे ससार मे भ्रमण कराने वाले हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण सक्षेप से बतलाते हुए लिखा है—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं, सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

अर्थ—परम आदर्श जिनेन्द्र देव, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ तपस्वी का निर्दोष (२५ दोष रहित तथा अष्ट अग सहित) श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

इस लक्षण के अनुसार जो स्त्री पुरुष कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु की श्रद्धा, उपासना का परित्याग करके श्री जिनेन्द्र देव, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ गुरु को अपना आराध्य, उपास्य, श्रद्धेय, पूज्य देव, शास्त्र, गुरु अन्तरंग वहिरग से मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है। वह अपने आपको जिनेन्द्र भगवान के समान शुद्ध परमात्मा वनने के पवित्र उद्देश्य से जैन धर्म का आराधक वनता है।

श्रद्धा और ज्ञान का तव तक कुछ विशेष मूल्य नही, जब तक कि आत्म-शुद्धि के लिए क्रियात्मक पग न उठाया जावे। तदनुसार पतन कराने वाली प्रवृत्तियो—पाप, दुराचार, दुर्व्यसनो से यथा सम्भव निवृत्त होना एव अपनी शक्ति-अनुसार व्रत, तप, त्याग, संयम को ग्रहण करना जैन का कर्त्तव्य है, एवं मनुष्यभव का उपादेय तत्व है।

धर्माचरण का फल

जिस समय कोई व्यक्ति शुद्ध हृदय से सत् देव, गुरु, शास्त्र का उपासक वन कर कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की श्रद्धा का परित्याग करता है तव से ही वह ससार-पथ से विमुख होकर मुक्ति-पथ पर चल पडता है।

उसकी उस प्रवृत्ति से ससार-भ्रमण के मूल कारण मिथ्यात्व, नरक आयु आदि १६ कर्म प्रकृतियो का संवर हो जाता है और असंख्यात गुणी अविपाक (विना फल दिये) कर्म-निर्जरा पहले अन्तर्मुहूर्त में होती है तथा अपनी राग-प्रवृत्ति के कारण उसके अनेक शुभ कर्मों का आस्रव होने लगता है।

वही सम्यग्दृष्टि जव गृहस्थाश्रम मे रहता हुआ अपनी शक्ति अनुसार अणुव्रती चारित्र (ग्यारह प्रतिमाओ मे से किसी प्रतिमा) को ग्रहण करके

और अधिक उच्च प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग पर प्रगति करता है, तब उसके पांचवा गुणस्थान होता है। उसके उस चारित्र-वृद्धि के कारण चौथे गुणस्थान के असयत सम्यग्दृष्टि से भी असख्यातगुणी कर्म-निर्जरा प्रतिसमय होती है तथा अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ, वज्रऋषभ नाराच सहनन, औदारिक शरीर, औदारिक अगोपाग, मनुष्यगति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी और मनुष्य आयु इन दश कर्म प्रकृतियो का सवर होता है। यानी इनका आस्रव-वन्ध होना रुक जाता है। एव पहले से भी अच्छा एव शुभ कर्म-आस्रव शुभ कर्मवन्ध होता है। जिसमे स्थिति हीन और अनुभाग अधिक होता है।

जब कोई भव्य पुरुष ससार से विरक्त होकर, गृहस्थाश्रम से बाहर निकल कर अव्रतो (हिंसा आदि पाँच पापों) का पूर्ण परित्याग करके मुनि दीक्षा ग्रहण करता है, तब उसके महाव्रती सकल चारित्र होता है।

महाव्रतो के विषय में श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव ग्रन्थ में लिखते हैं—

महत्त्वहेतोर्गुणिभि श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नुतानि।
महासुखज्ञाननिवन्धनानि, महाव्रतानीति सतां मतानि।१८१।

अर्थ—महत्त्व के कारण होने से गुणी पुरुष महाव्रतो का आश्रय लेते हैं, यानी—महाव्रत आचरण करते हैं। देवगण भी महाव्रतो (महाव्रती मुनियो को) को महान (महत्वशाली) समझ कर नमस्कार करते हैं। सन्त जन महाव्रतो को महान सुख और महान ज्ञान का कारण मानते हैं।

आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाध्यन्त्यर्थम्।
स्वयमपि महान्ति यस्मात् महाव्रतानीत्यतस्तानि।। पृ० १८८।।

अर्थ—तीर्थङ्कर आदि मुक्तिगामी महान पुरुष इनका आचरण करते हैं, महान अर्थ (मोक्ष पुरुषार्थ) को ये सिद्ध करते हैं, स्वय भी ये महान हैं, अतः ये महाव्रत कहलाते हैं।

निर्ग्रन्थ महाव्रती मुनि के जिनेन्द्र देव की वन्दना, स्तुति करते समय, प्रतिक्रमण, शास्त्र-स्वाध्याय, शास्त्र-रचना करते समय तथा भोजन-चर्या, शयन, विहार करते समय और धर्म-ध्यान करते समय छठा, सातवां गुणस्थान होता है।

छठे गुणस्थान में पांचवें गुणस्थान से भी असख्यातगुणी कर्म निर्जरा प्रति समय होती है तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का सवर होता है। एव राग भाव के तथा सज्वलन कषाय के सद्भाव के कारण शुभ कर्म आस्रव, शुभ कर्म-बन्ध भी होता है। सातवें गुण-स्थान मे असाता वेदनीय, अस्थिर, अशुभ, अयशकीर्ति, अरति और शोक इन छह कर्म प्रकृतियो का संवर तथा छठे गुणस्थान से असंख्यात गुणी कर्म-निर्जरा होती है एवं संज्वलन कषाय तथा नो-कषायों के कारण कर्मबन्ध भी हुआ करता है।

व्रती के संवर होने का शास्त्रीय प्रमाण

गुणस्थानों मे कर्म संवर को बतलाने के लिए गोम्मटसार कर्म-काण्ड की निम्नलिखित गाथा है—

सोलस पणवीस णभं दस चउ छक्केक्क बधवोछिण्णा।
दुग तीस चदुरपुव्वे पण सोलह जोगिणो एक्को ॥९४॥

अर्थ—पहले गुणस्थान मे मिथ्यात्व आदि १६ कर्म प्रकृतियो की बन्ध-व्युच्छित्ति होती है अर्थात् उससे ऊपर के गुणस्थानो मे इन १६ प्रकृतियों का सवर होता है। दूसरे गुणस्थान मे अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि २५ कर्म प्रकृतियों की बन्ध-व्युच्छित्ति हो जाती है यानी—२५ प्रकृतियो का भी आगे के गुणस्थानो मे सवर होता है। तीसरे गुणस्थान में किसी प्रकृति की बन्ध-व्युच्छित्ति नहीं होती। तद-नुसार चौथे गुणस्थान मे पहले दूसरे गुणस्थान की बन्ध-व्युच्छित्ति वाली १६+२५=४१ प्रकृतियों का सवर होता है। चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि १० प्रकृत्यियों की बंध-व्युच्छित्ति होती

है, उनका आगेके गुणस्थान मे आस्रव बन्ध नही होता, इसलिए अणुव्रत चारित्र वाले पाँचवे गुणस्थान मे ४१+१०=५१ इक्यावन प्रकृतियो का सवर होता है। पाँचवें गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ की बन्ध-व्युच्छित्ति होती है, अत. महाव्रत चारित्र वाले छठे गुणस्थान मे ५१+४=५५ पचपन प्रकृतियो का सवर होता है।

इसके आगे के गुणस्थानो मे (यानी—छठे से लेकर) क्रम से ६-१-३६ (आठवें गुणस्थान के विभिन्न भागो मे २+३०+४=३६)—५—१६—०—१ प्रकृति की बन्ध-व्युच्छित्ति होती है। जिस कर्म प्रकृति की जिस गुणस्थान में बन्ध-व्युच्छित्ति होती है, उस प्रकृति का उससे ऊपर के गुणस्थान मे सवर होता है। तीसरे और ग्यारहवें गुणस्थान मे किसी कर्म प्रकृति की बध-व्युच्छित्ति नही होती तथा चौदहवें गुणस्थान मे किसी भी कर्म का बन्ध नही होता।

तत्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय के दूसरे सूत्र मे बताया है कि—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः ॥२॥

अर्थ—वह सवर गुप्ति, समिति, क्षमादि धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र से होता है। अत. व्रत, गुप्ति, समिति, क्षमा आदि धर्म, १२ भावना, परिषह सहन, देशव्रत, सकलव्रत, सामायिक आदि व्यवहार चारित्र से कर्मों का सवर होता है।

निर्जरा

जय धवल में श्री वीरसेन आचार्य लिखते हैं—

घडियजालं व कम्मे अणुसमयअसंखगुणिय सेढीए।
णिज्जरमाणे संते वि महव्वईणं कुदो पावं ॥६०॥

[पुस्तक १ पृष्ठ १०७]

अर्थ—जब महाव्रतियो के प्रति-समय घटिका यन्त्र के जल के समान असख्यात गुणित श्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है, तब उनके पाप कैसे सभव है।

इन शास्त्रीय सिद्धान्तों से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि सम्यग्दृष्टि जितनी कर्मनिर्जरा करता है उससे असंख्यात गुणी कर्म-निर्जरा तथा सम्यग्दृष्टि से अधिक कर्मों (५१ प्रकृतियों) का संवर अणुव्रत पालन करने वाला श्रावक करता है।

अणुव्रती श्रावक से भी असख्यातगुणी कर्म-निर्जरा तथा अधिक कर्मों का (५५ कर्म प्रकृतियो का) सवर महाव्रती मुनि के होता है।

अतः सोनगढ सिद्धान्त की यह मान्यता गलत है कि—

'अणुव्रत, महाव्रत शुभास्रव के कारण हैं, उनसे संवर और निर्जरा नहीं होती।'

श्री प० वशीधर जी कलकत्ता गोम्मटसार कर्मकाण्ड तथा तत्वार्थ सूत्र का अध्ययन, मनन करके अपना भ्रम दूर करें। वहाँ कर्मबन्ध क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर समयसार मे दिया है।

सम्यग्ज्ञानी के बन्ध

रत्नत्रय की अपूर्ण अवस्था मे सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी के कर्म-बन्ध होता ही है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार मे कहा है—

दंसणणाणचरित्तं ज परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र जो जघन्य भाव से (अपूर्ण रूप से) परिणमन करते हैं, उससे सम्यग्ज्ञानी अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्मो से बधा करता है।

टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी टीका मे यही भाव व्यक्त किया है। इससे पहली १७१ वीं गाथा की टीका में सूरि जी लिखते हैं—

'ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः तावत् तस्यान्तर्मुहूर्त-विपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः। स तु

यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तावदवश्यंभाविरागसद्भावात् बन्धहेतुरेव स्यात ।

अर्थ—जब तक ज्ञानगुण का जघन्य परिणमन होता है तब तक वह अन्तंमुहूर्त मे विपरिणामी होने से उसका बार-बार अन्य रूप से परिणमन होता रहता है । ज्ञान का वह जघन्य परिणमन यथाख्यात चारित्र की अवस्था (१२ वें गुणस्थान) से नीचे सराग भाव अवश्य होने से कर्म-बन्ध का कारण ही होता है ।

श्री कहान जी स्वामी क्रमबद्ध पर्याय का सिद्धान्त सिद्ध करने के लिए जिस स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ का प्रमाण देते हैं, उस कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ मे लिखा है—

सम्मत्तं देसवयं महव्वय तह जओ कसायाण ।
एदे सवरणामा जोगाभावो तहा चेव ॥९५॥
गुत्ती समिदी धम्मो अणवेक्खा तह परिसहजओ वि ।
उक्किट्ठं चारित्तं सवरहेदू विसेसेण ॥९६॥

अर्थ—सम्यक्त्व, देशव्रत (अणुव्रत), महाव्रत, कषायो का जीतना तथा योगो का अभाव, ये सवर के नाम हैं । गुप्ति, समिति, क्षमा आदि धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह जय और उत्कृष्ट चारित्र, ये विशेष रूप से सवर के कारण हैं ।

निश्चय व्यवहार सम्यक्त्व

सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी जो कर्मो का आस्रव और बन्ध होता है उसका कारण असयत भाव है । चारित्र मोहनीय के उदय रहने से असंयत सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व सराग-सम्यक्त्व होता है, अत उसे व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं ।

जब चारित्र मोहनीय कर्म का पूर्ण अभाव हो जाता है तब सराग भाव मिट जाने से यानी—वीतराग भाव हो जाने से वह सम्यक्त्व

वीतराग या निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने तत्वार्थ सूत्र प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

तत् द्विविधं सराग-वीतराग-विषयभेदात्। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षण प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।

अर्थ—वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है—सराग सम्यक्त्व, वीतराग सम्यक्त्व। प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव प्रगट करने वाला, सराग व्यक्ति का सम्यक्त्व 'सराग- सम्यक्त्व' है और मोहनीय कर्म के अस्त हो जाने पर आत्मा की विशुद्धि वाले व्यक्ति का सम्यक्त्व 'वीतराग-सम्यक्त्व' है।

राजवार्तिक अ० १ सूत्र २ वार्तिक ३१ मे क्षायिक सम्यक्त्व को वीतराग सम्यक्त्व कहा है।

समयसार गाथा १३ की उत्थानिका मे लिखा है—

"निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनभावि निश्चयसम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते।

द्रव्य सग्रह की ४१ वी गाथा की टीका मे लिखा है—

एवमुक्तप्रकारेण मूढत्रयमदाष्टक-षडनायतनशंकाद्यष्टमल-रहितं शुद्धजीवादितत्वार्थ-श्रद्धानलक्षणं सरागसम्यक्त्वाभिधानं व्यवहारसम्यक्त्वं विज्ञेयम्। तथैव तेनैव सम्यक्त्वेन पारम्पर्येण साध्य शुद्धोपयोग-लक्षणं निश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपरमाल्हादैकरूप-सुखामृत-रसास्वादनमेवापादेयमिन्द्रियसुखादिकं च हेयमिति रुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधान निश्चयसम्यक्त्व च ज्ञातव्यमिति।······व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यते।

अर्थ—इस तरह ३ मूढता, ८ मद, ६ अनायतन और ८ शका आदि दोषरहित शुद्ध जीव आदि तत्वार्थों के श्रद्धानरूप सराग सम्यक्त्व

नामक व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिये। उसी प्रकार उसी व्यवहार सम्यक्त्व के द्वारा परम्परा से (गुणस्थान-क्रम से) साधने योग्य शुद्ध उपयोग लक्षण वाले, निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न, परम आल्हादरूप सुखामृत रस का आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य सुख आदिक हेय हैं, ऐसी रुचि-रूप तथा वीतराग चारित्र के बिना न होने वाला (अविनाभावी) "वीतराग सम्यक्त्व" नामक "निश्चय सम्यक्त्व" जानना चाहिये।

अत: सोनगढ के नेता निश्चयसम्यक्त्व को जो चौथे आदि सराग गुणस्थान मे बतलाते हैं, वह भ्रम उन्हे इन शास्त्रीय प्रमाणो को देखकर दूर कर देना चाहिये।

निश्चय सम्यक्त्व, चारित्र मोहनीय का क्षय हो जाने पर बारहवें आदि गुणस्थानो में होता है, उससे पहले राग-अवस्था मे वह नही होता।

तभी तो

क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी श्रेणिक राजा ने राग-उदय से शारीरिक पीडा से बचने के लिए आत्म-हत्या करके अपना प्राणान्त किया।

बन्ध का कारण

जिस प्रकार तत्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय के २१ वें सूत्र 'सम्यक्त्व च' मे सम्यग्दर्शन को देवायु के आस्रव का कारण बतलाया है और नौवें अध्याय के ४५ वें सूत्र 'सम्यग्दृष्टि-श्रावक' आदि मे सम्यग्दर्शन को निर्जरा का कारण बतलाया है उसी प्रकार तत्वार्थ सूत्र के नौवें अध्याय में जहा व्यवहार चारित्र—समिति आदि से कर्म-सवर होना बतलाया है, उसी तत्वार्थसूत्र के छठे अध्याय मे अणुव्रत महाव्रत को पुण्य कर्मास्रव का भी कारण कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि—

व्यवहार (सराग) सम्यक्त्व और व्यवहार (सराग) चारित्र के हो जाने पर सम्यक्त्व तथा चारित्र के साथ राग-परिणाम भी होते हैं।

यानी—चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व और राग के मिश्रित भाव तथा
पांचवें छठे गुणस्थान के अणुव्रती महाव्रती चारित्र के साथ रागमिश्रित
भाव होते हैं, अत एव उसे सराग सम्यक्त्व और सराग चारित्र कहते हैं।
उस सराग सम्यक्त्व के मिश्रित भाव में सम्यक्त्व अश से बन्ध नही होता
उससे तो संवर और निर्जरा ही होती है किन्तु राग-अश से कर्म-बन्ध
होता है। जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रेणिक राजा के अन्त समय बन्ध-
कारक आत्म-हत्या की भावना हुई और उस भावना से उसने आत्म-
हत्या कर भी डाली।

इसी तरह ससार, शरीर, विषय भोग एव पाप, दुर्व्यसन, अदया से
विरक्ति या निवृत्ति रूप व्रतात्मक चारित्र-अश से तो सवर निर्जरा ही
होती है, कर्म-बन्ध नही होता किन्तु उसके साथ जो संज्वलन क्रोध लोभ
आदि एव रति अरति आदि नो-कषाय का सराग भाव होता है, उससे
कर्म का आस्रव और बन्ध भी होता है। जैसा कि श्री प० टोडरमल
जी ने मोक्ष मार्ग प्रकाश मे पृष्ठ ३३४ तथा पृष्ठ ३४० पर लिखा है।
तथाच— इसी कर्म बन्ध होने,न होने का विवरण श्री अमृतचन्द्र सूरिने
पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय ग्रन्थ के २१२-२१३-२१४ मे श्लोको मे स्पष्ट बत-
लाया है, जिसे इसी पुस्तक में पृष्ठ ३५-३६ पर लिख चुके हैं।

इस २१ वें कथन में जो ६ शास्त्रीय आधार दिये हैं उनका उत्तर
६ वी वार्ता में दे चुके हैं, अतः उनको यहाँ फिर नही लिखा है।

परिशिष्ट

भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद् के प्रस्ताव के अन्तर्गत "नियति-वाद, कार्य-सिद्धि मे निमित्त कारण की अकिंचित्करता, व्यवहार चारित्र की त्याज्यता, व्यवहारनय की असत्यार्थता, केवल ज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवल ज्ञान का उदय न मामना" इन सोनगढ सिद्धान्त के मान्य पाँच विषयो के समर्थन मे श्री प० वशीधर जी कलकत्ता ने अपने ट्रैक्ट में कुछ नही लिखा। इन विषयों का समर्थन यह लिखकर छोड दिया है, कि इन विषयो पर प्रस्ताव में कुछ आधार नही बताया गया। सभवतः 'अमूल्यदान-क्रयी' न्याय के अनुसार श्री प० वशीधर जी ने यह सरल साधन अपनाया है। क्योकि प्रस्ताव की उल्लिखित ये पाचो बातें सोनगढ सिद्धात मे प्रख्यात हैं। अस्तु।

इन पाँचो बातो पर भी यहा सक्षेप से प्रकाश डालना आवश्यक है, जिससे पाठक उनसे भी परिचित हो जावें।

नियतिवाद

श्री कहान जी स्वामी ने अपनी 'वस्तु विज्ञानसार' पुस्तक के पृष्ठ ४६ पर नियतिवाद का पोषण किया है। बाद मे इस नियतिवाद का नाम उन्होने 'क्रमबद्धपर्याय' रक्खा है। यह नियतिवाद एकान्त का सिद्धान्त जैन-आगम के प्रतिकूल है। श्री कहान जी स्वामी ने सर्वज्ञ के ज्ञान की दुहाई देकर जो समस्त पदार्थों की नियत पर्यायो का नियत-क्रम रूप एकान्त बनाया है वह सर्वज्ञ की वाणी से भी गलत है और जीव पुद्गलो की अनिश्चित अक्रमिक पर्यायो से भी गलत सिद्ध होता है। प्रथम ही सक्षेप से शास्त्रीय आधार से इस विषय पर प्रकाश डाला जाता है।—

१—गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ८८२ मे तथा पच-सग्रह आदि आर्ष ग्रन्थो में नियतिवाद को एकान्त मिथ्यात्व माना गया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥

अर्थ—जो जिस समय जैसे जिसके नियम से होना है, वह उस समय उससे वैसे उसके होता है, ऐसा नियम से सब वस्तुओं का मानना नियतिवाद एकान्त मिथ्यात्व है।

२—श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय में लिखा है—

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध परसमओ ।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो ॥१५५॥

अर्थ—जीव अपने ज्ञानदर्शन रूप चैतन्य स्वभाव मे नियत है। किन्तु अनादि काल से मोहनीय कर्म के उदय से क्षण-क्षण में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, भय, स्त्रीवेद, पुंवेद आदि विभिन्न प्रकार मोही भावो के कारण **परसमय रूप अनियत गुण पर्याय वाला** बना हुआ है। यदि वह मोही भावों से अलग होकर स्वसमय वन जाता है तो कर्म बन्धन से छूट जाता है।

इस गाथा में आचार्य ने ससारी परसमय जीव को मोहनीय कर्म के उदय से 'अनियत गुण पर्याय वाला' कहा है।

३—श्री अमृतचन्द्र सूरि ने प्रवचनसार ग्रन्थ के अन्त में चरणानुयोग सूचक चूलिका मे २६ वी २७ वी नियतिनय तथा अनियति नयद्वारा आत्मा का निरूपण किया है—

नियतियेन नियमितौष्ण्यवन्हिवन्नियतस्वभावभासि ।२६।
अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि ॥२७॥

अर्थ—आत्मा अग्नि की नियमित उष्णता के समान नियतिनय से नियति-स्वभाववाला भासित होता है ॥२६॥ जल की अनियत उष्णता के समान आत्मा अनियति नय से अनियत स्वभाव वाला प्रतिभासित होता है ॥२७॥

४—तत्वार्थराजवार्तिक प्रथम अध्याय सूत्र ३ के ९ वें वार्तिक मे लिखा है—

कालानियमाच्च निर्जरायाः ।

अर्थ—जीवो के कर्मों की निर्जरा होकर मुक्ति होने का समय नियत नही है—

५—श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भावपाहुड मे लिखा है—

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं ।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ।।२५।।
हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं ।
रसविज्जजोयधारण अणयपसगेहिं विविहेहिं ।।२६
इय तिरिय मणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवार ।
अवमिच्चुमहादुक्ख तिव्व पत्तोसि तं मित्त ।।२७।।

अर्थ—विषभक्षण, रक्तक्षय, भय, शस्त्रघात, सक्लेश, आहार-निरोध (भूख), श्वास-निरोध (सास घुट जाना) हो जाने से आयु असमय मे समाप्त हो जाती है। तथा हे मित्र ! तूने वर्फ मे गलने, अग्नि मे जलने, पानी मे डूबने, पर्वत से तथा ऊचे वृक्ष से गिर पडने से शरीर भग हो जाने के कारण, पारे आदि घातक रसायन से एव समाधि लगाने आदि अन्य कारणो से इस मनुष्य भव में तथा तिर्यञ्च भव मे उत्पन्न होकर अनेक बार अकालमरण का तीव्र दुख पाया है।

६—श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्वार्थसूत्र अध्याय दो मे लिखा है—

औपपादिकचरमोत्तमदेहासख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।।५३।।

अर्थ—देव, नारकी, उत्तम चरम-शरीरी मनुष्य, भोगभूमिज पशु, मनुष्य पूण आयु भोगने वाले होते हैं। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि शेष जीवो का अकाल-मरण भी हो सकता है।

सारांश यह है कि कर्म-भूमिज पशु पक्षी कीड़े मकोड़े आदि तथा मनुष्यों का अकालमरण भी होता है।

इस सूत्र की टीका रूप श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, आदि ग्रन्थों में अकाल मरण की पुष्टि की गई है।

७—गोम्मटसार कर्म काण्ड मे अकाल मरण (कदलीघात मरण) का विधान है—

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं ।
उस्सासाहाराणं णिरोहदो छिज्जदे आऊ ॥५७॥

अर्थ—विष खा लेने से, असह्य पीडा से, रक्त-क्षय हो जाने से, महान भय से, शस्त्रघात से, भारी सक्लेश से, सांस घुट जाने से, भोजन पानी न मिलने से आयु असमय मे समाप्त हो जाती है।

८—गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कर्म की १० दशा बतलाई हैं—

बंधुक्कट्टणकरणं संकममोकट्टुदीरणा सत्तं ।
उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होदि पडिपयडी ॥४३७॥

अर्थ—बन्ध उत्कर्षण (स्थिति अनुभाग का बढना) सक्रमण (बाँधी हुई कर्म प्रकृति का बदल जाना), अपकर्षण (बाँधी हुई स्थिति अनुभाग का घट जाना), उदीरणा (समय से पहले कर्म का उदय में आना), सत्व, उदय, उपशान्त, निधत्ति (जिसकी उदीरणा संक्रमण न हो सके), निकाचित (जिस कर्म की उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण न हो सके) ये कर्म की दश दशाएँ होती है।

इनमे से उत्कर्षण, अपकर्षण, सक्रमण और उदीरणा के अनुसार बाँधा हुआ कर्म जैसे का तैसा फलदायक नही रहता, उसकी दशा अनियत रहती है। यानी—कभी कर्म की स्थिति अनुभाग घट जाता है, कभी बढ जाता है, कभी साता, असाता आदि कर्म बदल जाते हैं, कभी उनका उदय यथासमय से पहले आ जाता है। अकालमरण भी आयु कर्म की समय से पहले उदीरणा के अनुसार होता है।

६. श्री अकलङ्कदेव ने तत्वार्थ राजवार्तिक ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय के अन्त में अकालमरण की पुष्टि करते हुए लिखा है—

अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेत् न, दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् ॥१०॥

यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्या-म्रफलादीनां दृष्ट पाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्त. ।

अर्थ—शका-समय (आयु समाप्ति) से पहले मरण नहीं होता है ?

उत्तर—सर्वथा ऐसी बात नही है। समय से पहले (आयु समाप्त होने से पहले) भी जीवो का मरण होता देखा जाता है। जैसे कि समय से पहले आम का पकना देखा जाता है । जिस प्रकार आम का फल पेड़ से तोडकर समय से पहले पयाल कागज भुस आदि में रखकर पका लिया जाता है उसी प्रकार आयु की मर्यादा से पहले शस्त्रघात, विप-भक्षण, दुर्घटना आदि कारणो से आयु कर्म की उदीरणा होने (निश्चित समय से पहले उदय मे आ जाने) से आयु का अपवर्त (कम होना) होता है। यानी—स्थिति पूर्ण होने से पहले मरण हो जाता है।

आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ।११। यथाष्टाङ्गायुर्वेदविद्भिषक् प्रयोगे अतिनिपुणो यथाकालवाताद्युदयात्प्राक् वमनविरेचनादिना अनुदीर्णमेव श्लेष्मादि निराकरोति, अकालमृत्युव्युदासार्थं रसायनं चोपदिशति, अन्यथा रसायनोपदेशस्य वैयर्थ्यम् । न चादोऽस्ति। अत आयुर्वेदसामर्थ्यादस्त्यकालमृत्यु.।

अर्थ—आयुर्वेद (वैद्यक, डाक्टरी) की सामर्थ्य से भी अकाल-मृत्यु की सिद्धि होती है। जैसे वैद्यक विषय में अत्यन्त चतुर वैद्य यथासमय प्रगट होने वाले शरीर में वात आदि विकार से पहले ही औषधि से वमन (उल्टी) तथा विरेचन (टट्टी) द्वारा कफ को निकाल देता है। तथा अकालमृत्यु से बचाने के लिए औषधि का प्रयोग करना बतलाता है।

यदि किसी मनुष्य, पशु पक्षी का अकाल मरण न होता हो तो औषधि का प्रयोग करना, शल्य-चिकित्सा (चीर-फाड आपरेशन) आदि सब उपाय करना व्यर्थ है। इस कारण आयुर्वेद (वैद्यक, डाक्टरी) की सामर्थ्य से भी अकालमृत्यु की सिद्धि होती है।

इत्यादि अनेक आगम-प्रमाणों द्वारा अकालमरण, तथा ससारी जीवो और पुद्गलों की विभिन्न कारणो से नियत तथा अनियत पर्यायो का होना सिद्ध होता है।

सर्वज्ञ त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों की त्रिकालीन पर्यायों को जानता है। अपने अपने उपादान कारण तथा निमित्त कारणो से जैसी नियत या अनियत (क्रमबद्ध या अक्रमिक) पर्यायें होती हैं उनको वह उसी नियत या अनियत क्रम से जानता है। जैसा वह जानता है वैसा ही उसने ससारी जीवों को अपनी दिव्यवाणी द्वारा बतलाया है।

यदि सर्वज्ञ भगवान सर्व पर्यायों को नियति रूप से जानते तो वे नियतिवाद को मिथ्यात्व न कहते।

अत: उपर्युक्त प्रमाणो से जो अकालमरण आदि अनियत पर्यायो के विधान के विषय मे आर्ष ग्रन्थो मे लिखा है, वह सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार ही लिखा है, अपनी कपोल-कल्पित बात नही लिखी। इसलिये सोनगढ के नेताओ को सर्वज्ञ वीतराग देव (सर्वज्ञ भगवान), जिनवाणी (गोम्मटसार, तत्वार्थसूत्र, राजवार्तिक आदि ग्रन्थ) और सद्गुरुओं (श्री कुन्दकुन्द आदि ग्रन्थकार आचार्यों) पर श्रद्धा प्रगट करके एकान्त मिथ्यात्वरूप नियतिवाद सिद्धान्त छोड़ देना चाहिये।

विज्ञान के आविष्कार

आजकल के वैज्ञानिक आविष्कार भी क्रमबद्ध-पर्याय की मान्यता को आलसी निठल्ले व्यक्तियों का नि:सार सिद्धान्त प्रमाणित करते हैं।

टीन, इलम्युनियम, रैडियम आदि धातुओ की उत्पत्ति, सीमेन्ट, स्टेनलैस स्टील का मिश्रित उत्पादन, प्लास्टिक, सैल्युलाइड का

निर्माण, काच के रेशो से वस्त्र-निर्माण, परमाणु द्वारा बिजली बनाना विध्वसक बम बनाना, बिजली, टेलीफोन, बेतार का तार, रेडियो, टेलिविजन, कृत्रिम हृदय, प्लास्टिक की हड्डी आदि अगणित पदार्थ ऐसे बन रहे हैं जिनकी पहले कोई क्रमबद्धपर्याय थी ही नहीं।

रूस परमाणु बम की मार से अपने यहाँ की नदियों के प्रवाह की दिशा बदल देने की तैयारी में है जिससे समस्त यूरोप का शीत वातावरण भारत-सरीखा शीत-उष्ण हो जायगा। परमाणु बम के विस्फोटों ने जलवर्षा को कितना विकृत कर दिया, यह बात सब के सामने है।

कृत्रिम गर्भाधान

पशुओं की नस्ल सुधारने के लिए आजकल कृत्रिम गर्भाधान की भी पद्धति चल पडी है। जिस देश मे अधिक दूध देने वाली गायें उत्पन्न होती हैं वहां के सांडों का वीर्य कांच की ट्यूब (वैज्ञानिक काँच की नली) में लेकर सैंकडो हजारो मील दूरवर्ती देशो में भेज देते हैं। पिचकारी से उसे गायों के गर्भाशय मे पहुचा दिया जाता है जिससे वह गाय गर्भवती होकर उसी नस्ल का बछडा-बछडी उत्पन्न करती है।

दिल्ली की पशु प्रदर्शिनी मे ऐसी अनेक भारतीय गायो के बछडी-बछडे लाये गये थे जो यहाँ से ५००० मील दूर रहने वाले अमरीका क सांडो के (कांच की नली मे लाये गये) वीर्य से उत्पन्न हुए थे।

विदेशो मे स्त्रियो पर भी इस तरह के कृत्रिम गर्भाधान के प्रयोग हुए हैं। अमरीका निवासी एक मनुष्य के वीर्य को काच की नली में भारत में लाया गया, उससे एक भारतीय महिला को गर्भाधान कराया गया।

इस तरह यह कृत्रिम गर्भाधान भी अक्रम-पर्याय का वैज्ञानिक प्रयोग है।

अन्धों के नेत्र

अब तक अन्धे स्त्री पुरुष जन्म भर अन्धे ही बने रहते थे। उनका

जीवन उनके लिये तथा उनके परिवार के लिये, समाज और देश के लिये भाररूप पराधीन माना जाता रहा है।

अब वैज्ञानिकों ने मृतक स्त्री पुरुषो की आँखें निकाल कर उनको अन्धे स्त्री पुरुषो की आखो में लगाने की प्रक्रिया का आविष्कार किया हैं। इस तरह अन्धे स्त्री पुरुष अन्य व्यक्तियों की तरह अपनी उन लगाई गई आँखों द्वारा देखने लगते है।

इसके लिये मरणोन्मुख व्यक्तियों को प्रेरणा करने की पद्धति चल पडी है कि मरने के पश्चात् वे अपनी आँखों का दान अन्धों की आँखें ठीक करने के लिये कर दें।

वधिर (बहरे) स्त्री पुरुषों के कान ठीक कर देने का भी वैज्ञानिक आविष्कार हुआ है।

२० वर्ष पहले एक सैनिक अधिकारी का हाथ कट गया था, गत वर्ष अन्य मृतक मनुष्य का हाथ काट कर उस सैनिक के हाथ मे जोड़ दिया, अब वह उससे सभी काम ठीक करता है।

इस तरह वैज्ञानिक आविष्कारो ने अन्धे बहरे पुरुषों की क्रमबद्ध-पर्याय को छिन्न भिन्न कर डालने की चुनौती दी है।

इत्यादि अनेक आध्यात्मिक, शास्त्रीय, लौकिक तथा वैज्ञानिक प्रमाणों से क्रमबद्ध पर्याय का एकान्त सिद्धान्त असत्य सिद्ध होता है।

भौगोलिक क्रम-भङ्ग

प्राकृतिक दुर्घटनाओं—भूकम्प, ज्वालामुखी पर्वतों का विनाशकारी विस्फोट, उनसे लावा निकल बहना तथा समुद्री भारी तूफान आदि—से अनेक भौगोलिक परिवर्तन हो जाते हैं। जसे कि १६ वी शताब्दीमें इटली का एक लाख मनुष्यों की जनसख्या वाला **पम्पियाई** नामक नगर **विसूविएस** नामक ज्वालामुखी पर्वत के विस्फोट से प्रचुर मात्रा में

निकली हुई राख से इस तरह दब गया था कि तीन सौ वर्ष तक उसके चिन्ह का भी पता न लगा।

काले समुद्र की तूफानी लहरो ने अपने तटवर्ती एक रूसी नगर को लगभग २०० वर्ष पहले समुद्र में डुबा दिया था जिससे समुद्र के भीतर समूचे मकान अब भी मिल रहे हैं।

इसके सिवाय आधुनिक अमरीकन इन्जीनियरो ने भी पनामा नहर बनाकर अतलान्तक तथा प्रशान्त महासागर को और स्वेज नहर द्वारा भूमध्यसागर तथा अरब सागर को मिला दिया है। अमेरिका ने अपने यहां एक कृत्रिम समुद्र बनाया है। भारत सरकार ने भाखडा बांध से सतलुज नदी का प्रवाह बीच मे ही समाप्त कर दिया है।

इत्यादि अनेक भौगोलिक परिवर्तन क्रमबद्ध-पर्याय का जीता जागता खण्डन कर रहे हैं। साराश यह है कि प्रत्येक कार्य उपादान कारण तथा अन्तरग बहिरग निमित्त कारणो के मिलने पर ही होता है। निमित्तकारण जहां क्रमसे मिलतेजाते हैं वहा पर्याय क्रमसे होती है, जहाँ निमित्त कारण अक्रम से मिलते हैं वहा पर्याय अक्रम से होती है। अशुद्ध पदार्थों की पर्यायो में न तो सर्वथा क्रम ही होता है और न सर्वथा अक्रम होता है।

नियत अनियतवाद पर अभिमत

(डा० श्री प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य ने तत्वार्थवृत्ति की प्रस्तावना में इस विषय पर अपना अभिमत प्रगट किया है, उसका कुछ अश यहां देते हैं।)

नियताऽनियत्ववाद—जैन दृष्टि से द्रव्यगत शक्तियां नियत हैं पर उनके प्रतिक्षण के परिणमन अनिवार्य होकर भी अनियत हैं। एक द्रव्य की उस समय की योग्यता से जितने प्रकार के परिणमन हो सकते हैं उनमें से कोई भी परिणमन, जिसके निमित्त और अनुकूल सामग्री मिल जायगी, हो जायगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य की

शक्तियां तथा उनसे होने वाले परिणमनों की जाति सुनिश्चित है। कभी भी पुद्गल के परिणमन जीव में तथा जीव के परिणमन पुद्गल मे नही हो सकते। पर प्रतिसमय कैसा परिणमन होगा, यह अनियत है। जिस समय जो शक्ति विकसित होगी तथा अनुकूल निमित्त मिल जायगा उसके बाद वैसा परिणमन हो जायगा। अतः नियतत्व और अनियतत्व दोनो धर्म सापेक्ष हैं, अपेक्षा भेद से सम्भव हैं।

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य का ही खेल यह दृश्य जगत है। इनकी अपनी द्रव्य-शक्तियाँ नियत हैं। ससार में किसी की शक्ति नही जो द्रव्य-शक्तियों में से एक को भी कम कर सके या एक को बढा सके। इनका आविर्भाव और तिरोभाव पर्याय के कारण होता रहता है। जैसे मिट्टी पर्याय को प्राप्त पुद्गल से तेल नही निकल सकता, वह सोना नही बन सकती, यद्यपि तेल और सोना भी पुद्गल ही बनता है, क्योकि मिट्टी पर्याय वाले पुद्गलों की यह योग्यता तिरोभूत है, उसमें घट आदि बनने की, अकुर को उत्पन्न करने की, बर्तनों के शुद्ध करने की, प्राकृतिक चिकित्सा में उपयोग आने की आदि पचासो पर्याय-योग्यताएँ विद्यमान हैं। जिसकी सामग्री मिलेगी, अगले क्षण मे वही पर्याय उत्पन्न होगी। रेत भी पुद्गल है पर इस पर्याय में घड़ा बनने की योग्यता तिरोभूत है, अप्रकट है, उसमें सीमेट के साथ मिलकर दीवाल पर पुष्ट लेप करने की योग्यता प्रकट है, वह कांच बन सकती है या वही पर लिखी जाने वाली काली स्याही का शोषण कर सकती है। मिट्टी पर्याय में ये योग्यताएँ अप्रकट है। तात्पर्य यह कि :—

(१) प्रत्येक द्रव्य की मूलद्रव्यशक्तियाँ नियत हैं उनकी संख्या में न्यूनाधिकता कोई नही कर सकता। पर्याय के अनुसार कुछ शक्तियाँ प्रकट रहती हैं और कुछ अप्रकट। इन्हें पर्याय-योग्यता कहते हैं। (२) यह नियत है कि चेतन का अचेतनरूप से तथा अचेतन का चेतन रूप से परिणमन नही हो सकना। (३) यह भी नियत है कि एक

चेतन या अचेतन द्रव्य का दूसरे सजातीय चेतन या अचेतन द्रव्य रूप से परिणमन नही हो सकता। (४) यह भी नियत है कि दो चेतन मिल कर एक सयुक्त सदृश पर्याय उत्पन्न नही कर सकते जैसे कि अचेतन परमाणु मिल कर अपनी सयुक्त सदृश घट पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं। (५) यह भी नियत है कि द्रव्य मे उस समय जितनी पर्याय-योग्यताएँ हैं उनमे जिसके अनुकूल निमित्त मिलेंगे वही परिणमन आगे होगा, शेष योग्यताएँ केवल सद्‌भाव मे रहेगी। (६) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य का कोई न कोई परिणमन अगले क्षण मे अवश्य होगा। यह परिणमन द्रव्यगत मूल-योग्यताओ और पर्यायगत प्रकट योग्यताओ की सीमा के भीतर ही होगा, बाहर कदापि नही। (७) यह भी नियत है कि निमित्त उपादान द्रव्य की योग्यता का ही विकास करता है उसमे नूतन सर्वथा असद्‌भूत परिणमन उपस्थित नही कर सकता। (८) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणमन का उपादान होता है। उस समय की पर्याय-योग्यता रूप उपादान शक्ति की सीमा के बाहिर का कोई परिणमन निमित्त नही ला सकता। परन्तु—

(१) यही एक बात अनियत है कि **'अमुक समय में अमुक परिणमन ही होगा।'** मिट्‌टी की पिंड पर्याय मे घडा सकोरा सुराही दीपक आदि अनेक पर्यायो के प्रकटाने की योग्यता है। कुम्हार की इच्छा और क्रिया आदि का निमित्त मिलने पर उनमे से जिसकी अनुकूलता होगी वह पर्याय अगले क्षण में उत्पन्न हो जायगी। यह कहना कि 'उस समय मिट्‌टी की यही पर्याय होनी थी, उनका मेल भी सद्‌भाव रूप से होना था, पानी की यही पर्याय होनी थी' द्रव्य और पर्यायगत योग्यता के अज्ञान का फल है।

नियतवाद नहीं—जो होना होगा वह होगा ही, हमारा कुछ भी पुरुषार्थ नही है, इस प्रकार के निष्क्रिय नियतिवाद के विचार जैनतत्त्व-स्थिति के प्रतिकूल हैं। जो द्रव्यगत शक्तियां नियत हैं उनमें

हमारा कोई पुरुषार्थ नही, हमारा पुरुषार्थ तो कोयले की हीरा पर्याय के विकास कराने में है। यदि कोयले के लिए उसकी हीरापर्याय के विकास के लिये आवश्यक सामग्री न मिले तो वह जलकर भस्म बनेगा या फिर खानि में ही पड़े-पड़े समाप्त हो जायगा। इसका यह अर्थ नही है कि जिसमें उपादान शक्ति नही है उसका परिणमन भी निमित्त से हो सकता है, या निमित्त में यह शक्ति है जो निरुपादान को परिणमन करा सके।

नियतिवाद-दृष्टिविष—एक वार 'ईश्वरवाद' के विरुद्ध छात्रो ने एक प्रहसन खेला था। उसमे एक ईश्वरवादी राजा था, जिसे यह विश्वास था कि ईश्वर ने समस्त दुनिया के पदार्थों का कार्य-क्रम निश्चित कर दिया है। प्रत्येक पदार्थ की 'अमुक समय में यह दशा होगी इसके वाद यह, सव सुनिश्चित है। कोई अकार्य होता तो राजा सदा यह कहता था कि—'हम क्या कर सकते हैं? ईश्वर के नियति-चक्र मे हमारा हस्तक्षेप उचित नही "ईश्वर की मर्जी।" एक वार कुछ गुण्डों ने राजा के सामने ही रानी का अपहरण किया। जव रानी ने रक्षार्थ चिल्लाहट शुरू की और राजा को क्रोध आया तव गुण्डों के सरदार ने जोर से कहा—"ईश्वर की मर्जी" राजा के हाथ ढीले पड़ते हैं और वे गुण्डे रानी को उसके सामने ही उठा ले जाते हैं। गुण्डा रानी को भी समझाते हैं कि "ईश्वर की मर्जी यही थी' रानी भी विधिविधान मे अटल विश्वास रखती थी और उन्हे आत्म-समर्पण कर देती है। राज्य में अव्यवस्था फैलती है और परचक्र का आक्रमण होता है और राजा की छाती में दुश्मन की जो तलवार चुभती है वह भी 'ईश्वर को मर्जी' इस जहरीले विश्वास-विष से वुझी हुई था और जिसे राजा ने विधि-विधान मान कर ही स्वीकार किया था। राजा और रानी गुण्डों और शत्रुओं के आक्रमण के समय "ईश्वर की मर्जी" "विधि का विधान" इन्ही ईश्वरास्त्रो का प्रयोग करते थे। पर न मालूम उस समय ईश्वर क्या कर रहा था? ईश्वर

भी क्या करना ? गुण्डे और शत्रुओं का कार्य-क्रम भी उसी ने बनाया था और वे भी 'ईश्वर की मर्जी' और 'विधिविधान' की दुहाई दे रहे थे। इस ईश्वरवाद में इतनी गुंजाइश तो थी कि यदि ईश्वर चाहता तो अपने विधान मे कुछ परिवर्तन कर देता। आज **श्री कान जी स्वामी की 'वस्तु विज्ञानसार' पुस्तक को** पलटते समय उस प्रहसन की याद आ गई और ज्ञात हुआ कि यह नियतिवाद का कालकूट 'ईश्वरवाद' से भी भयकर है। ईश्वरवाद में इतना अवकाश है-कि यदि ईश्वर की भक्ति की जाय या सत्कार्य किया जाय तो ईश्वर के विधान में हेरफेर हो जाती है। ईश्वर भी हमारे सत्कर्म और दुष्कर्मों के अनुसार ही फल का विधान करता है, पर यह नियतिवाद अभेद्य है। आश्चर्य तो यह है कि इसे 'अनन्त पुरुषार्थ' का नाम दिया जाता है। यह कालकूट कुन्दकुन्द, अध्यात्म, सर्वज्ञ, सम्यग्दर्शन और धर्म की शक्कर में लपेट कर दिया जा रहा है। ईश्वरवादी सांप के जहर का एक उपाय (ईश्वर) तो है पर इस नियतिवादी कालकूट का इस भीषण दृष्टिविष का कोई उपाय नहीं; क्योंकि हर एक द्रव्य की हर समय की पर्याय नियत है।

मर्मान्त वेदना तो तब होती है जब इस मिथ्या एकात विष को अनेकान्त अमृत के नाम से कोमलमति नई पीढी को पिला कर उन्हें अनन्त पुरुषार्थी कहकर सदा के लिए पुरुषार्थ से विमुख किया जा रहा है।

पुण्य और पाप क्यों ?—जब प्रत्येक जीव का प्रति समय का कार्यक्रम निश्चित है, अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नही, साथ ही स्वकर्तृत्व भी नही है, तब क्या पुण्य और क्या पाप ? किसी मुसलमान ने देव प्रतिमा तोडी, तो जब मुसलमान को उस समय प्रतिमा को तोडना ही था, प्रतिमा को उस समय टूटना ही था, सब कुछ नियत था तो विचारे मुसलमान का क्या अपराध ? वह तो नियति-चक्र का दास

था। एक याज्ञिक ब्राह्मण बकरे की बलि चढाता है तो क्यो उसे हिंसक कहा जाय—'देवी की ऐसी ही पर्याय होनी थी, बकरे के गले को कटना ही था, छुरे को उसकी गर्दन के भीतर घुसना ही था, ब्राह्मण के मुँह में मांस जाना ही था, वेद में ऐसा ही लिखा जाना था।' इस तरह पूर्वनिश्चित योजनानुसार जब घटनाएँ घट रही हैं तो उस विचारे को क्यों हत्यारा कहा जाय ? हत्याकाण्ड रूपी घटना अनेक द्रव्यों के सुनिश्चित परिणमन का फल है। जिस प्रकार ब्राह्मण के छुरे का परिणमन बकरे के गले के भीतर घुसने का नियत था उसी प्रकार बकरे के गले का परिणमन भी अपने भीतर छुरा घुमवाने का निश्चित था। जब इन दोनो नियत घटनाओं का परिणाम बकरे का बलिदान है तो इसमे क्यों ब्राह्मण को हत्यारा कहा जाय ? किसी स्त्री का शील भ्रष्ट करने वाला व्यक्ति क्यो दुराचारी गुण्डा कहा जाय ? स्त्री का परिणमन ऐसा ही होना था और पुरुष का भी ऐसा ही, दोनो के नियत परिणमनों का नियत मेलरूप दुराचार भी नियत ही था फिर उसे गुण्डा और दुराचारी क्यो कहा जाय ? इस तरह इस श्रोत्र-विषरूप (जिसके सुनने से ही पुरुषार्थ-हीनता का नशा आता है) नियतिवाद मे जब अपने भावो का भी कर्तृत्व नही है अर्थात् ये भाव सुनिश्चित हैं. तो पुण्य-पाप हिंसा-अहिंसा, सदाचार-दुराचार, सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन क्या ?

गोडसे हत्यारा क्यों ?—यदि प्रत्येक द्रव्य का प्रति समय का परिणमन नियत है, भले ही वह हमे न मालूम हो, तो किसी कार्य को पुण्य और किसी कार्य को पाप क्यों कहा जाय ? नाथूराम गोडसे ने महात्मा जी को गोली मारी, तो क्यो नाथूराम को हत्यारा कहा जाय ? नाथूराम का उस समय वैसा ही परिणमन होना था और गोली का और पिस्तौल का भी वैसा ही परिणमन निश्चित था। अर्थात् हत्या नाथूराम, महात्मा जी, पिस्तौल और गोली आदि अनेक पदार्थो के नियत कार्यक्रम का परिणाम है। इस घटना से सम्बद्ध सभी पदार्थो के

परिणमन नियत थे। और उस सम्मिलित नियति का परिणाम हत्या है। यदि यह कहा जाता है कि नाथूराम महात्माजी के प्राणवियोगरूप परिणमन मे निमित्त हुआ है, अत अपराधी है तो महात्माजी को नाथूराम के गोली चलाने मे निमित्त होने पर क्यो न अपराधी ठहराया जाय? जिस प्रकार महात्माजी का यह परिणमन निश्चित था उसी प्रकार नाथूराम का भी। दोनो नियतिचक्र के सामने समान रूप से दास थे। सो यदि नियतिदास नाथूराम हत्या का निमित्त होने से दोषी है, तो महात्माजी नाथूराम की गोली चलाने रूप पर्याय में निमित्त होने से दोषी क्यो नही? इन्हे जाने दीजिए, हम तो यह कहते हैं कि—पिस्तौल से गोली निकलनी थी और गोली को गाधी जी की छाती में घुसना था इसलिए नाथूराम और महात्माजी की उपस्थिति हुई। नाथूराम तो गोली और पिस्तौल के उस अवश्यम्भावी परिणमन का एक निमित्त था जो नियतिचक्र के कारण वहा पहुँच गया। जिनकी नियति का परिणाम हत्या नाम की घटना है। वे सब पदार्थ समान रूप से नियतिचक्र से प्रेरित होकर उस घटना में अपने अपने नियत भवितव्य के कारण उपस्थित हैं। अब उनमें से क्यो मात्र नाथूराम को पकड़ा जाता है? बल्कि हम सब को उस दिन ऐसी खबर सुननी थी और श्री आत्माचरण को जज बनना था इसलिए यह सब हुआ। अतः हम सब को और आत्माचरण को ही पकडना चाहिए। अतः इस नियतिवाद मे न कोई पुण्य है न पाप, न सदाचार न दुराचार। जब कर्तृत्व ही नही तब क्या सदाचार क्या दुराचार? नाथूराम गोडसे को नियतिवाद के आधार पर ही अपना बचाव करना चाहिए था, और सीधा आत्माचरण के ऊपर टूटना चाहिए था कि चूकि तुम्हे हमारे मुकदमे का जज होना था इसलिये इतना बडा नियतिचक्र चला और हम सब उसमे फसे। यदि सब चेतनो को छुटाना है तो पिस्तौल के भवितव्य को दोष देना चाहिए, न पिस्तौल का उस समय वैसा परिणमन होना होता, न वह गोडसे के हाथ मे आती और न गांधीजी की छाती मे छिदती। सारा

दोष पिस्तौल के नियत परिणमन का है। तात्पर्य यह है कि इस नियति-वाद में सब साफ है। व्यभिचार, चोरी, दगाबाजी और हत्या आदि सब कुछ उन उन पदार्थों के नियत परिणमन के परिणाम हैं, इसमें व्यक्ति विशेष का क्या दोष ? अतः इस सत्-असत्-लोपक, पुरुषार्थ-विघातक नियतिवाद विष से रक्षा करनी चाहिए।

नियतिवाद में एक ही प्रश्न एक ही उत्तर—नियतिवाद मे एक उत्तर है—'ऐसा ही होना था, जो होना होगा सो होगा ही' इसमे न कोई तर्क है, न कोई पुरुषार्थ और न कोई बुद्धि। वस्तुव्यवस्था में इस प्रकार के मृत-विचारो का क्या उपयोग ? जगत् में विज्ञानसम्मत कार्यकारण भाव है। जैसी उपादान योग्यता और जो निमित्त होंगे तदनुसार चेतन-अचेतन का परिणमन होता है। पुरुषार्थ निमित्त और अनुकूल सामग्री के जुटाने में है। एक अग्नि है, पुरुषार्थी यदि उसमे चन्दन का चूरा डाल देता है तो सुगन्धित धुआँ निकल कर कमरे को सुवासित कर देता है, यदि बाल आदि पड़ते हैं तो दुर्गन्धित धुआँ उत्पन्न हो जाता हैं। यह कहना अत्यन्त भ्रान्त है कि चूरा को उसमे पड़ना था, पुरुष को उसमे डालना था, अग्नि को उसे ग्रहण करना ही था इसमें यदि कोई हेर-फेर करता है तो नियतिवादी का वही उत्तर कि "ऐसा ही होना था।" मानो जगत के परिणमनो को ऐसा ही होना था, इस नियति-पिशाच्चिनी ने अपनी गोद में सभी कुछ ले रखा हो।

नियतिवाद में स्वपुरुषार्थ भी नहीं—नियतिवाद मे अनन्त पुरुषार्थ की बात तो जाने दीजिये स्वपुरुषार्थ भी नही है। विचार तो कीजिये जब हमारा प्रत्येक क्षण का कार्यक्रम सुनिश्चित है और अनन्त काल का, उसमें हेर फेर का हमको भी अधिकार नही है तब हमारा पुरुषार्थ कहाँ ? और कहाँ हमारा सम्यग्दर्शन ? हम तो एक महानियति चक्र के अंश है और उसके परिचलन के अनुसार प्रतिक्षण चल रहे हैं। यदि हिंसा करते हैं तो नियत है, व्यभिचार करते हैं तो नियत है, चोरी करते हैं तो नियत है, पापचिन्ता करते हैं तो नियत है। हमारा

पुरुषार्थ कहाँ होगा ? कोई भी क्षण इस नियतिभूत की मौजूदगी से रहित नही है, जबकि हम सांस लेकर कुछ अपना भविष्य-निर्माण कर सकें।

भविष्य-निर्माण कहां ? इस नियतिवाद मे भविष्य-निर्माण की सारी योजनाए हवा हैं। जिसे हम भविष्य कहते हैं वह भी नियतिचक्र मे सुनिश्चित है और होगा ही। जैन दृष्टि तो यह कहती है कि—'तुममे उपादान-योग्यता प्रति समय अच्छे और बुरे बनने की, सत् और असत् होने की है, जैसा पुरुषार्थ करोगे, जैसी सामग्री जुटाओगे अच्छे बुरे भविष्य का निर्माण स्वय कर सकोगे।' पर जब नियतिचक्र निर्माण करने की बात पर ही कुठाराघात करके उसे नियत या सुनिश्चित कहता है तब हम क्या पुरुषार्थ करें ? हमारा हमारे ही परिणमन पर अधिकार नहीं है क्योंकि वह नियत है। पुरुषार्थ-भ्रष्टता का इससे व्यापक उपदेश इससे अधिक दूसरा नही हो सकता। इस नियतिचक्र मे सबका सब कुछ नियत है, उसमे अच्छा क्या ? बुरा क्या ? हिंसा क्या अहिंसा क्या ?

निमित्त कारण

श्री कहान जी स्वामी अपनी पुस्तक 'वस्तु विज्ञानसार' के पृष्ठ ३२ पर लिखते हैं—

'परमार्थ से निमित्त के बिना ही कार्य होता है। विकार रूप या शुद्ध रूप में जीव स्वय ही निज पर्याय में परिणमित होता है और उस परिणमन में निमित्त की तो नास्ति है। कर्म और आत्मा का सम्मिलित परिणमन होकर विकार नहीं होता। एक वस्तु के परिणमन के समय पर-वस्तु की उपस्थिति हो तो इससे क्या ? परवस्तु का और निजवस्तु का परिणमन बिलकुल भिन्न ही है, इसलिए जीव की पर्याय निमित्त के बिना अपने आप से ही होती है।

श्री कहान जी स्वामी द्वारा प्रचलित यह "बिना निमित्त कारण के कार्य होने" का सिद्धान्त कर्म-सिद्धान्त, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र आदि के प्रतिपादक चारो अनुयोग रूप समस्त आगमों के तथा समस्त विज्ञान (साइन्स) के, समस्त तर्कशास्त्र, एवं समस्त दर्शन-सम्मत कार्यकारण भाव के प्रतिकूल है।

'यस्मिन् सति यद् भवति, असति च न भवति, तत्तस्य कारणम्'

अर्थ—जिसके होने पर जो कार्य हो, जिसके न होने पर वह कार्य न हो, वह उस कार्य का कारण होता है।

यह कार्य कारण भाव का सर्वसम्मत लक्षण है। कारण दो प्रकार के होते हैं—१. 'उपादान कारण' जो कि स्वय कार्यरूप परिणत होता है। २. 'निमित्त कारण' जो उस कार्य के होने में सहायता करता है। उपादान कारण एक होता है परन्तु निमित्त कारण अनेक हुआ करते हैं। जिस तरह उपादान कारण के विना कोई भी कार्य नही होता, इसी तरह निमित्त कारणो के विना भी कोई कार्य नही होता।

जैसे रुई से कपडा बनता है, तो रुई कपडे का उपादान कारण है, विना रुई के कभी सूती कपडा बन नही सकता। परन्तु अकेली रुई से भी कपडा नही बन सकता। रुई को धागो के रूप में लाने के लिए चर्खा और चर्खा चलाने वाली स्त्री या पुरुष होना चाहिये विना चर्खा या मशीन तथा उसके चलाने वाले व्यक्ति के धागा अपने आप नही बन सकता। धागा बन जाने पर कपडा बनाने के लिए उसको बुनने का करघा तथा करघा चलाने वाला जुलाहा होना चाहिये, विना करघा और बुनकर जुलाहे के उस धागे से कपडा नही बन सकता। इस तरह रुई से कपडा बनाने के लिए चर्खा, करघा, कातने वाले, बुनने वाले आदि अनेक कारण होने अत्यन्त आवश्यक हैं उन निमित्त कारणो के विना रुई से कपडा त्रिकाल में नही बन सकता।

इस विषय में श्री कहान जी स्वामी का यह मत है कि "कार्य-

केवल उपादान कारण से होता है, निमित्त कारण कुछ नही करता।"
उनका यह मानना और कहना सर्वथा गलत है क्योकि न तो कोई लौकिक कार्य विना निमित्त कारणो की सहायता के होता है या हो सकता है और न कोई आध्यात्मिक कार्य—कर्म वधन या कर्म-मोचन (कर्मों से मुक्ति) विना निमित्त कारणो की सहायता के होता है या हो सकता है।

"सामग्री जनिका, नैक कारणं।" यानी—उपादान और निमित्त कारणो के समुदाय से ही कार्य होता है, केवल अकेले उपादान कारण से कार्य नही होता।

जिनवाणी, जिनवाणी के उपदेष्टा गुरु, मन्दिर, प्रतिमा, स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन, मिथ्यात्व-अज्ञान असयम का हटना, मनुष्य भव, वज्र-ऋषभ नाराच सहनन, व्यवहार सम्यक्त्व, व्यवहार ज्ञान, व्यवहार चारित्र, धर्म ध्यान आदि १०—५ ही नही किन्तु असख्य अन्तरग, वहिरग निमित्त कारणो के मिलने पर ही मुक्ति मिला करती है। उनमे से किसी भी निमित्त कारण की कमी होने पर त्रिकाल मे भी मुक्ति नही मिल सकती। अव तक जो अनन्तानन्त जीव ससारी वने हुए हैं तथा अनन्तानन्त अभव्य, दूरातिदूर भव्य प्राणी अनन्त काल तक ससारी वने रहेगे, उस सव संसार-भ्रमण में या मुक्ति न मिलने मे ऊपर लिखे निमित्त कारणो का न मिलना ही मुख्य वाधक है।

समयसार ग्रन्थ मे आत्मा के मिथ्यात्व, अज्ञान, असयम, जीवन, मरण आदि परिणमन के मोहनीय, ज्ञानावरण, आयु कर्म आदि द्रव्यकर्म निमित्त कारण वतलाये हैं। नियमसार मे सम्यक्त्व के उत्पन्न होने के लिये दर्शन मोहनीय का क्षय, जिनवाणी आदि निमित्त कारण वतलाये हैं।

प्रत्येक ससारी आत्मा पौद्गलिक शरीर तथा उसकी इन्द्रियो के निमित्त से चलता फिरता, देखता, सुनता, सूँघता, रस आस्वाद करता, लिखता, पढता, वोलता है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन काल द्रव्य के

निमित्त से होता है। धर्म द्रव्य का निमित्त न मिलने से मुक्त आत्मा अलोकाकाश में नही जाने पाता।

राजवार्तिक श्लोकवार्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थो में निमित्त कारणों की सार्थकता का समर्थन प्रचुर मिलता है। उसे विस्तार भय से यहाँ नही दे रहे।

स्वपर-प्रत्यय पर्याय उपादान तथा निमित्त कारणो द्वारा सम्पन्न होती है। द्रव्यों का परिणमन काल द्रव्य की नैमित्तक सहायता से होता है, ऐसा विधान श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पचास्तिकाय की 'कालो परिणाम भवो' आदि १०० वी गाथा मे, श्री अमृतचन्द्र सूरि ने इसकी टीका मे (**जीवपुद्गलानां, परिणामस्तु बहिरगनिमित्त-भूत-द्रव्यकाल-सद्भावे सति सभूतत्वात्**) किया है। श्री पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थ सिद्धि अ० ५ सूत्र २२ मे समस्त शुद्ध अशुद्ध द्रव्यों के परिणमनमें (**धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्ति प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्यभावात तत्प्रवर्तनोपलक्षितः कालः**) काल द्रव्य को अनिवार्य निमित्त कारण बतलाया है।

व्यवहार चारित्र

व्यवहार चारित्र को त्याज्य मानकर मुक्ति प्राप्त करना तो, ऐसा है जैसे विना बीज बोये वृक्ष उत्पन्न होना, विना बचपन के यौवन अवस्था आने का स्वप्न देखना। आज तक कोई भी मुक्तिगामी ऐसा नही हुआ जो व्यवहार चारित्र के विना आचरण किये निश्चय चारित्र-धारी बना हो और मुक्ति की प्राप्ति कर सका हो। मुक्ति-मार्ग का प्रारम्भ, सराग सम्यक्त्व, सराग-चारित्र यानी—व्यवहार-सम्यक्त्व, व्यवहार-चारित्र से ही हुआ करता है।

इस कारण सोनगढ का यह सिद्धान्त मूलतः गलत है कि "व्यवहार-चारित्र त्याज्य है"।

आज व्यवहार चारित्र के अभाव मे मनुष्यो का पतन हो रहा है, वह अपने दुराचार से चोर, अभक्ष्य-भक्षक, व्यभिचारी, शराबी, बेईमान,

लुच्चा, गुण्डा, वदमाश वनते जा रहे हैं। जिस तरह पुराने युग मे (भूत-काल में) व्यवहार चारित्र ने मनुष्य को सद्गुणी, स्व-परहितकारी, धर्मात्मा, सज्जन बनाया, वैसे ही आज भी और अनन्त भविष्य काल तक भी व्यवहार-चारित्र ही मनुष्य का उद्धार करेगा।

व्यवहार चारित्र के बिना शुद्ध आत्मा की वात करना घुने हुए चने के समान 'थोथा चना वाजे घना' लोकोक्ति के अनुसार नि:सार, निरर्थक है।

व्यवहार नय

ससारी जीव का प्रत्येक कार्य, वह चाहे लौकिक हो या मोक्षिक, व्यवहार नय को सत्य मानकर ही करना पडता है।

श्री कहान जी स्वामी का प्रवचन, लिखना, पढना, देवदर्शन, भक्ति, उपासना, खाना, पीना, सोना, बोलना, सुनना, चलना, फिरना सभी कुछ प्रवृत्ति व्यवहार नय-अनुसार है। श्री कहान जी स्वामी स्वयं मनुष्य, पंचेन्द्रिय, सज्ञी, पर्याप्त, जैन आदि व्यवहार नय-अनुसार हैं। यदि व्यवहार नय असत्यार्थ है तो उनका प्रवचन, उपदेश, लिखना आदि सभी वातें भी असत्यार्थ हैं। व्यवहार नय को असत्यार्थ कहने वाला व्यक्ति जरा निश्चय नय से बोलकर, देखकर, सुनकर तो वतलावे।

'मेरी माता बन्ध्या है, मैं गूंगा हूं' कहने वाले मनुष्य के समान ही व्यवहार नय को सर्वथा असत्यार्थ कहने वाला मनुष्य है।

जगत के प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक अश, वह चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, उत्पाद व्ययात्मक पर्याय रूप हैं। पदार्थ का यह पर्याय है परिणमन व्यवहार नय अनुसार तो है ही। निश्चय नय से तो आत्मा न मुक्त है, न संसारी है, न सर्वज्ञ है, न अल्पज्ञ है, न शुद्ध है, न अशुद्ध है, न मूर्ख है, न विद्वान, न मनुष्य है, न देव।

जो भी विकल्पात्मक कथन है वह सब व्यवहार नय अनुसार है। निश्चय नय तो गूंगा है। वह कुछ बोल नहीं सकता। समयसार ग्रन्थ भी व्यवहार नय से निश्चय को बतलाता है। निश्चय नय से श्री कहान

जी स्वामी बोल कर तो दिखावें, शुद्ध आत्मा का कथन तो योजनों और राजुओं दूर की बात रही।

स्वयं केवलज्ञानी व्यवहार नय के अवलम्बन से उपदेश देते हैं, समस्त जिनवाणी निश्चय व्यवहार नय का सन्मान करती है।

जयधवल मे लिखा है—

"ववहारणय पडुच्च पुण गोदमसामिणा चदुवीसण्हमणियोगद्दाराणमादीए मंगलं कदं। ण च ववहारणओ चप्पलओ, ततो ववहाराणुसारिसिस्साण पउत्तिदंसणादो। जो वहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कयं।" (पु० १ पृ० ८)

अर्थ—गौतम स्वामी ने व्यवहार नय का आश्रय लेकर कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारो के आदि में 'णमो जिणाण' इत्यादि रूप से मंगल किया है। यदि कहा जाय व्यवहार नय असत्य है, सो भी ठीक नही है क्योंकि उसमें व्यवहार का अनुसरण करने वाले शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः व्यवहार नय बहुत जीवो का अनुग्रह करने वाला है, उसी का आश्रय करना चाहिये, ऐसा मन में निश्चय करके गौतम स्थविरने चौबीस अनुयोगद्वार के आदि में मगल किया है।

णियणियवणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलियं वा।११७।

अर्थ—सभी नय अपने अपने विषय के कथन करने मे समीचीन हैं और दूसरे नयों का निराकरण करने में मूढ़ हैं। अनेकान्त रूप समय के ज्ञाता पुरुष यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है, इस प्रकार का विभाग नही करते हैं।

तब व्यवहार नय को सर्वथा असत्यार्थ कहना ऐसे ही है, जैसे कोई

चिल्लाता फिरे कि 'मेरे मौनव्रत है।'

निश्चय से केवली भगवान आत्मज्ञ हैं उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से सर्वज्ञ हैं। (नियमसार गा. १८५) यदि व्यवहार नय या व्यवहार नय का विषय झूठ है तो सर्वज्ञ के अभाव का प्रसग आ जायगा जो कि सोनगढ़ वालो को इष्ट नहीं है।

अत. सोनगढ सिद्धान्त की यह बात गलत है, कि व्यवहार नय सर्वथा असत्यार्थ है। व्यवहार (पर्यायार्थिक) नय भी निश्चय नय के समान सोलह आने सत्य है।

केवल ज्ञान

श्री कहान जी स्वामी की मान्यता है कि 'केवल ज्ञान हो जाने पर केवल ज्ञानावरण का क्षय होता है।' सोनगढ़ सिद्धान्त की यह मान्यता भी युक्ति और आगम के विरुद्ध है।

संसार का कोई भी कार्य तव होता है जब उस कार्य के प्रतिबन्धक कारण का अभाव होता है। सूर्य का प्रकाश तब होता है, जब उसके प्रकाश की प्रतिबन्धक काली आंधी, भारी बादल पटल, पूर्ण सूर्य ग्रहण आदि प्रतिबन्धक न हो। यदि काली आंधी होती है, तब दिन के दोपहर को भी अन्धकार फैला रहता है, जब काली आंधी हट जाती है, तभी सूर्य का प्रकाश होता है।

कोई बन्दी (कैदी) तभी स्वतन्त्र होता है, जब कि उसकी हथकडी वेडी और जेल दूर हो जावे। बिना हथकडी, वेडी कटे और बिना जेल से मुक्ति मिले कोई भी कैदी जेल से मुक्त नही हो सकता।

ऐसी ही बात ससार-बन्दीघर (जेलखाने) के बन्दियो (कैदियो) ससारी जीवो की भी है। कर्म की हथकड़ी-बेड़ी ने ससारी जीव के

आत्मा को और उसके प्रत्येक गुण को जकड़ रक्खा है। केवल ज्ञान को केवल ज्ञानावरण ने, सम्यक्त्व को दर्शन मोहनीय ने तथा चारित्र को चारित्र मोहनीय कर्म ने प्रतिवद्ध कर (रोक) रक्खा है, जब तक वह कर्म का प्रतिवन्ध दूर नही होता तब तक सम्यक्त्व, केवल-ज्ञान और यथाख्यात चारित्र का उदय न होता है और न हो सकता है।

जैसे सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने से दर्शन मोहनीय का क्षय नहीं होता किन्तु अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति करणों द्वारा दर्शन मोहनीय कर्म की निर्जरा और संवर होने के पश्चात् सम्यक्त्व होता है। जैसा कि श्री कुन्द कुन्द आचार्य ने नियमसार की गाथा ५३ मे सम्यक्त्व के लिए अन्तरंग निमित्त कारण के रूप में 'अंतर हेऊो भणिया, दसण-मोहस्स खय-पहुदी' (दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय आदि सम्यक्त्व के अंतरग निमित्त कारण हैं) वाक्य द्वारा दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय होने पर ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति वतलायी है। ठीक इसी प्रकार—

श्री उमास्वाति आचार्य ने केवलज्ञान की उत्पत्ति के लिए कारण निर्देश करते हुए दशवे अध्याय के प्रारम्भ में लिखा है—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

अर्थ—मोहनीय कर्म के क्षय से और तत्पश्चात् ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म के क्षय हो जाने से केवल ज्ञान (केवल दर्शन) होता है।

यानी—पहले केवलज्ञानावरण का क्षय होता है, तव केवलज्ञान होता है। ऐसा नहीं है कि पहले केवल-ज्ञान हो जाय उसके पीछे केवल-ज्ञानावरण का क्षय होवे।

इसी वात का श्री कुन्दकुन्द आचार्य अपने आध्यात्मिक ग्रन्थ समय-सार की 'सो सव्वणाणदरसी' आदि १६० वी गाथा द्वारा संकेत करते हैं। एवं श्री पूज्यपाद, अकलंक देव, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्री अमृतचन्द्र सूरि आदि सभी ग्रन्थकार इसका समर्थन करते हैं।

अन्तिम-निवेदन

इस समय केवल-ज्ञानी, मनपर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतकेवली तथा अन्य किसी विशेष ज्ञान-ऋद्धि-धारक ज्ञानी का सद्भाव नहीं है, जिसके ममक्ष जाकर किसी बात का निर्णय किया जा सके। इस समय तो हमारे सामने आर्ष ग्रन्थो के रूप मे **जिन-वाणी** ही उपलब्ध है, अत. हमको अपनी श्रद्धा, ज्ञान और आचार जिनवाणी के अनुसार बनाना चाहिये।

जिन-वाणी प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के रूप में निबद्ध की गई है। जिनवाणी के श्रद्धालु को चारो अनुयोगो का स्वाध्याय करके ज्ञान-साधना करनी चाहिये, तभी जिनवाणी का रहस्य प्राप्त किया जा सकता है।

श्री कहान जी स्वामी ने जो अपने जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है, उस आध्यात्मिक परिवर्तन को उन्हे चारो अनुयोगो के ग्रन्थो के मार्मिक स्वाध्याय द्वारा सफल करना चाहिये। द्रव्यानुयोग का रहस्य करणानुयोग का ज्ञान प्राप्त किये विना प्राप्त नही होता। श्री कहान जी स्वामी ने जो अपने प्रवचन और ग्रन्थो के निर्माण में मोटी-मोटी सैद्धान्तिक गलतिया की हैं, उसका मूल कारण यह प्रतीत होता है कि उन्होने गोम्मटसार आदि ग्रन्थो का गम्भीर अध्ययम नही किया।

इसी कारण वे शुद्ध आत्म-तत्व का निरूपण तो करते हैं, किन्तु यह नही बतलाते कि आत्मा शुद्ध होता किस तरह है, कैसे परिणाम आत्मा को कितना शुद्ध करते हैं, बहिरात्मा से अन्तरात्मा कैसे बनता है और अन्तरात्मा से परमात्मा कैसे हुआ करता है; सम्यक्त्व से आत्मा की कितनी शुद्धि होती है, और चारित्र से कितनी होती है, कर्मों का सवर और अविपाक-निर्जरा किस गुण-स्थान से प्रारम्भ होती है और

किस किस गुण-स्थान में वह संवर, निर्जरा की मात्रा कितनी-कितनी बढ़ती जाती है, संवर और निर्जरा की हानि वृद्धि का कारण क्या है, कर्मों का आस्रव, बन्ध, सत्व, उदय किस किस गुण-स्थान में कितना होता है ?

इन बातों को विना अच्छी तरह जाने समझे और विना बतलाये आत्मा शुद्ध न तो किया जा सकता है और न कराया जा सकता है ।

जैसे अपने मैले कपडे के विषय मे यों कहे कि "**हमारा वस्त्र तो निर्मल स्वच्छ है, उसमें रंच-मात्र भी मैल नहीं है। हमें तो उसकी निर्मल स्वच्छता दिखाई दे रही है। वस्त्र का परिणमन वस्त्र में है, मैल का परिणमन मैल में है । पर-पदार्थ मैल हमारे वस्त्र की स्वच्छता को नहीं बिगाड़ सकता ।**" इत्यादि बातों के कहने सुनने से वस्त्र साफ नहीं होता । उसके लिये तो जल और साबुन द्वारा साफ करने का परिश्रम करना पडता है ।

इसी तरह आत्मा का कर्म मल, केवल आत्मा को शुद्ध-बुद्ध-सिद्ध समझ लेने मात्र से या मधुर वाणी में कह देने मात्र से दूर नहीं हो जाता, उसके लिये यथाविधि कुछ तप त्याग संयम का श्रम भी करना पडता है, विषय-भोगों का सम्पर्क छोड़ना पड़ता है, मन वचन शरीर की प्रवृत्ति बदलनी पडती है, आत्म-ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है । जैसे कि सम्यग्दृष्टी, महान् ज्ञानी तीर्थंकरों ने किया । केवल चर्चा करने से कुछ नहीं बनता । प्रथमानुयोग का स्वाध्याय किये विना आत्म-शोधन की क्रियात्मक (अमली प्रैक्टीकल) प्रक्रिया नही मालूम हो सकती ।

ज्ञान का संचय

साँस के लिये स्वच्छ वायु लेने के लिये तथा दूषित वायु अपने घर में से या कमरे में से बाहर निकाल के लिये कमरे की खिडकियों को तथा प्रकाशदानो (रोशनदानों) को खुला रखना चाहिये। जो मनुष्य

अपने कमरे या मकान की खिडकियो तथा प्रकाशदानो (रोशनदानो) को बन्द रखते हैं, वे कभी स्वस्थ नही रह सकते।

ठीक, इसी तरह बुद्धिमान पुरुषको ज्ञानके कण संचित करने के लिये अपने मस्तिष्क (दिमाग) की खिडकियां भी खुली रखनी चाहिये जिससे ज्ञान-भडार मे वृद्धि होती रहे। जो मनुष्य अपने दिमाग की खिडकिया बन्द कर लेते हैं वे अपने ज्ञान को परिष्कृत नही कर सकते।

सोनगढ के नेता केवल द्रव्यानुयोग का स्वाध्याय करते हैं वे अपने मस्तिष्क की खिडकियां प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग के लिये बन्द किये रहते हैं, इसी कारण प्रतीत होता है कि उनका आध्यात्मिक-ज्ञान अधूरा यानी एकान्त-पक्षी बन गया है। निश्चय नय के प्रेमी होकर भी वे निश्चय नयको भी आलाप-पद्धति आदि ग्रन्थोके स्वाध्याय किये विना अभी तक ठीक नही समझ पाये, गुण-स्थानो को नही जान पाये एवं निश्चय और व्यवहार धर्म या रत्नत्रय को नहीं समझ पाये, जैसा कि उनके द्वारा निर्मित एव प्रकाशित ग्रन्थों से प्रगट होता है। छहढाला, द्रव्यसग्रह—जैसे ग्रन्थो की सोनगढी टीका इसका स्पष्ट उदाहरण है। मूलग्रन्थ कुछ कहता है तो उसकी सोनगढी टीका कुछ कहती है।

समयसार की श्री अमृतचन्द्र सूरि कृत तथा श्री जयसेन आचार्य की टीका कुछ कहती है और सोनगढ से प्रकाशित समयसार प्रवचन कुछ कहता है।

सैद्धान्तिक विवाद इसी एकाङ्गी (केवल द्रव्यानुयोग के) स्वाध्याय का फल है। यदि समस्त अनुयोगो का स्वाध्याय, मनन, चिन्तन हो तो एक ही आम्नाय के व्यक्तियो मे परस्पर सैद्धान्तिक विवाद हो नही सकता।

अनुयायी वर्ग

सोनगढ के अनुयायी वर्ग ने अपना सुन्दर नाम 'मुमुक्षु' रक्खा अवश्य है परन्तु मुक्त होने के लिये जो चारो अनुयोगो का ज्ञान-अर्जन करने के

लिये प्रयास होना चाहिये, सो उन्होने भी नहीं किया। 'द्रव्यानुयोग के सिवाय अन्य अनुयोगों के ज्ञानकण कही उनके हृदय में न घुस आवे' इस आशंका से उन्होने अन्य तीन अनुयोगो के लिये अपने हृदय के वज्र कपाट बन्द कर लिये हैं। वे द्रव्यानुयोग के सिवाय अन्य किसी अनुयोगका स्वाध्याय करते ही नही।

उनसे यदि गुणस्थानो के विषय मे, नयों के विषय मे या कर्मो के बन्ध, उदय, सत्व, सक्रमण, उदीरणा, सवर, निर्जरा आदि के विषय में पूछो तो लगभग ९९ प्रतिशत मुमुक्षु सज्जनो का यही एक उत्तर होता है कि **'हमने तो आत्मा को समझना है, अन्य बातों से हमें क्या प्रयोजन।'**

ऐसी दशा मे वे क्या तो समयसार समझेंगे और क्या आत्मा को समझेंगे। जिस व्यक्ति ने अपने वस्त्र का मैल, मैलका कारण तथा मैल छूटने की विधि और उसका प्रयोग न समझा, भला वह वस्त्र को क्या साफ कर सकेगा।

वे अपने स्वाध्याय मे जब तक सिवाय गलत सोनगढी साहित्य के अन्य आर्ष ग्रन्थों को नही लेंगे तब तक वे एकान्तवादी धारणा से छूट कर अनेकान्तवाद में कैसे आ सकते हैं?

इन्दौर आदि विभिन्न स्थानों पर समाज में परस्पर तनाव उत्पन्न होने का मूल कारण केवल यह है कि मुमुक्षु भाई सोनगढ़ी साहित्य के साथ अन्य कोई भी आर्ष ग्रन्थ नही पढना चाहते। जब कि जनता सभी अनुयोगों का स्वाध्याय चाहती है।

सोनगढी ग्रन्थो मे दिगम्बर मुनियों की अश्रव्य (न सुनने योग्य) निन्दा भी अनेक स्थलो पर विभिन्न रूप से लिखी हुई है। (उसका उल्लेख करके हम जनता की भावना को भड़काना उचित नही समझते।) यह बात भी सामाजिक विवाद की कारण बन जाती है।

अनुचित प्रणाली

चारित्र मोहनीय कर्म का जब तक उदय रहता है तब तक प्रत्येक जीव के अनेक प्रकार की इच्छाएं हुआ करती हैं। उन इच्छाओ मे से एक इच्छा यशो-लिप्सा यानी—यश कीर्ति प्राप्त करने की आकाक्षा भी है। यश प्राप्त करने की तीव्र इच्छा धार्मिक या आध्यात्मिक महानुभावो के भी होती है। क्योंकि वे भी तो रागी मोही होते हैं। इसलिये अध्यात्म-प्रेमी व्यक्ति भी अपने यश-कीर्ति के प्रसार के लिये कृत, कारित, अनुमोदना के रूप मे विविध कार्य रुचि के साथ करते हैं। इस यशो-लिप्सा पर विजय प्राप्त करने वाला कोई विरला ही उच्चकोटि का महात्मा होता है।

परन्तु तत्ववेत्ता, अध्यात्म-प्रेमी धर्मात्मा को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह अपना यश फैलाने की इच्छा से कोई ऐसा कार्य न करे और न अपने अनुयायियो द्वारा अपने लिये होने दे जिससे मिथ्या प्रवृत्ति चल पडे।

सोनगढ मे कुछ ऐसी प्रवृत्तिया जड जमाती जा रही हैं जिन्हें सोनगढ के नेताओ को कडाई के साथ रोक देना चाहिये।

असत्य वार्ता

राजकोट के श्री ब्र० चुन्नीलाल जी देसाई ने अपनी पुस्तक (सोनगढ का कलक) मे, श्री प० सरनाराम जी ने अपने लेख में तथा श्री कहान भजन मजरी पुस्तक मे चपकलाल मोहन डगली न यह अभिप्राय लिखा है कि—

"श्री कहान जी स्वामी पूर्व भव में विदेह क्षेत्र मे एक राजा के राजकुमार थे। उन्होंने अपनी पत्नी के साथ श्री १००८ सीमन्धर तीर्थंकर का दर्शन समवशरण में जाकर उस समय किया था जब श्री कुन्दकुन्द आचार्य वहां गये थे।"

सोनगढ के नेताओ तथा श्री कहान जी स्वामी की ओर से इस

वात का निराकरण नही किया गया, इससे प्रतीत होता है कि 'मौन सम्मतिलक्षणम्' नीति के अनुसार आप इस वात से सहमत हैं। किसी के पूर्वभव की वात कोई अन्य व्यक्ति कह भी नहीं सकता, अतः सभव है कि, यह बात श्री कहान जी स्वामी ने ही कही होगी। जैसा कि पं० सरनाराम जी ने लिखा भी है।

परन्तु यह बात असंगत है। विदेह क्षेत्र में भाग्यशाली मनुष्यों की एक कोटि पूर्व की (अरबों वर्ष की) आयु होती है। तदनुसार श्री कुन्दकुन्द आचार्य के समय अनुसार युवक राजकुमार दो हजार वर्ष पीछे ही विदेह क्षेत्र से चय कर श्री कहान जी स्वामी के रूप में कैसे उत्पन्न हो सकता है? अकालमृत्यु की घटना से ही ऐसा होना सम्भव है।

विदेह क्षेत्र का वह राजकुमार सम्यग्दृष्टि न होगा, अन्यथा वह मनुष्य आयु का वन्ध करके श्री कहान जी स्वामी के रूप मे कैसे उत्पन्न होता। सम्यक्त्वी मनुष्य के तो देव आयु का वन्ध होता है।

विदेह क्षेत्र का भाग्यशाली मनुष्य यदि मनुष्य भी होता, तो विदेह में तो जन्म लेता जिससे उसी भव से उसको मुक्ति प्राप्त करने के साधन सुलभ होते तथा साक्षात् तीर्थंकर के दर्शन करने का अवसर मिलता रहता।

इत्यादि, सिद्धान्त की छाया में यह बात गलत सिद्ध होती है।

कलिकाल में उत्पन्न हुआ भरत क्षेत्र का कोई व्यक्ति विदेह क्षेत्र मे जन्म ले, यह तो उसके अभ्युदय (उन्नति) और नि.श्रेयस (कल्याण) का चिन्ह है किन्तु विदेह क्षेत्र का राजकुमार कलिकाल में भरतक्षेत्र में उत्पन्न हो, यह उन्नति और कल्याण का चिन्ह नही।

श्री कहान जी स्वामी को जनता की यह गलत धारणा दूर कर देनी चाहिये।

चित्र की पूजा

बम्बई के मन्दिर मे श्री कहान जी स्वामी का एक बडा चित्र एक अलग वेदी में विराजमान है। मन्दिर मे दर्शन करने के लिए आने वाले भक्त स्त्री पुरुष उस चित्र को अर्हन्त भगवान के समान साष्टाग नमस्कार करते हैं, उस चित्र की आरती उतारते हैं। जव श्री कहान जी स्वामी व्रती भी नही हैं, अव्रती हैं, तव उनके चित्र की इस तरह पूजा, भक्ति की जानी वहुत अनुचित है। श्री कहान जी स्वामी को यह गलत पद्धति तत्काल रोक देनी चाहिये।

मानस्तम्भ में मूर्ति

समवशरण की अनुकृति रूप में मन्दिर का निर्माण किया जाता है और समवशरण के वहिर्भाग में वने हुए मानस्तम्भ का अनुकरण करके मन्दिर के सामने मानस्तम्भ वनाया जाता है। मानस्तम्भ मे अर्हन्त भगवान की प्रतिमा विराजमान की जाती है। परन्तु श्री कहान जी स्वामी के भक्त मानस्तम्भ मे श्री कहान जी स्वामी की मूर्ति भी वना देते हैं। यदि कहान जी स्वामी महाव्रती मुनि होते तव तो उनकी मूर्ति दिगम्वर आम्नाय का वोध कराने वाली होती। परन्तु वे वस्त्रधारक अव्रती के रूप मे हैं, तो उनकी वस्त्रधारिणी मूर्ति से श्री कुन्दकुन्द आचार्य के निर्ग्रन्थ जिनेन्द्र रूप का घात होता है। यह वात इस समय साधारण प्रतीत होती है परन्तु कालान्तर मे वहुत हानि-प्रद सिद्ध होगी। श्री कहान जी स्वामी तो सदा न वने रहेगे (हमारी तो भावना है कि वे चिरायु हो) परन्तु उनके अभाव मे मानस्तम्भ मे उत्कीर्ण उनकी प्रतिमा उनके दिगम्वरीय मान्यता या चिन्ह का वोध न करा सकेगी।

इस पर श्री कहान जी स्वामी गम्भीरता से विचार करें।

पागले

श्री कहान जी स्वामी एक ओर तो शुद्ध सम्यग्दर्शन को ही उपादेय वताकर व्यवहार रत्नत्रय को भी त्याज्य वताते हैं। देवमूढता, गुरु-

मूढता और लोकमूढता को बडी दृढता से निषेध करते हैं, किन्तु उधर उनके आश्रय से मिथ्यात्व का प्रचार भी हो रहा है,यह एक विचित्र बात है। यह बात अनेक बार प्रकाशित हुई है कि श्री कहान जी स्वामी के चरणों के तलवों पर केसर लगाकर उनके भक्त जन वस्त्रो पर उन चरणों-चिन्हो की छाप (पागला) ले लेते हैं। उन पागलों को वे अपने घरों मे इस मान्यता से ऊंचा टाग देते हैं कि इनके निमित्त से लक्ष्मी, स्वास्थ्य, सुख, सुविधा का समागम होगा।

क्या यह प्रथा और मान्यता लोकमूढता अथवा गुरुमूढ़ता की प्रतीक नही है ? श्री कहान जी स्वामी गम्भीरता से विचार करें।

तीर्थङ्कर का अवतार

श्री कहान जी स्वामी की ७४ वी वर्षगाँठ पर श्री व्रजलाल फूलचन्द्र भायाणी (सौराष्ट्र) द्वारा प्रकाशित 'कहान भजन मजरी' (प्रथम पुष्प) पुस्तक मे पृष्ठ १० तथा पृष्ठ १७ पर श्री कहान जी स्वामी को 'तीर्थंकर' बतलाया गया है। पृष्ठ ६ पर श्री कहान जी स्वामी को 'केवल ज्ञान का टुकड़ा' लिखा है।

क्या सोनगढ़ के नेताओं को तथा स्वयं श्री कहान जी स्वामी को अपने लिए प्रयुक्त ये विशेषण उचित प्रतीत होते है ? गहराई से विचार करें।

ये बातें जनता में मिथ्या प्रवृत्ति (मिथ्यात्व) फैलाने वाली हैं, अतः इनका कडाई के साथ निराकरण होना चाहिये।

विद्वानों का कर्तव्य

विद्वान् सदा सरस्वती का उपासक रहा है। लोक मे सरस्वती का वाहन नीर क्षीर का विवेक करने वाले 'हस' को माना गया है। तदनुसार विद्वानों को सरस्वती माता (जिनवाणी) का हृदय से सन्मान करके उससे विमुख कोई वार्ता न करनी चाहिये। चारो अनुयोगो का रूप धारण करने वाली जिनवाणी "सर्वाङ्ग सुन्दरी बनी रहे, उसका कोई अग-भग न होने पावे", इसका उत्तरदायित्व विद्वानो पर है, जिसका निर्वाह प्रत्येक जैन विद्वान को शुद्ध हृदय से करना चाहिये।

"आत्मा के अभ्युदय के लिये चारित्र का आचरण भी अनिवार्य आवश्यक है, निश्चय-व्यवहार-आत्म-परिणति साध्य-साधन रूप है, विचार-धारा अनेकान्तमयी सत्य है, एकान्त-पोषिणी असत्य है, कार्य-सिद्धि उपादान तथा निमित्त दोनो प्रकार के कारणो से हुआ करती है, कषायांश बन्ध का कारण है, व्रत तप सयम सवर निर्जरा का कारण है।" इत्यादि विषय पर विद्वानो को गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि, राज-वार्तिक आदि ग्रन्थो के आधार से स्पष्ट विवेचन करना चाहिये।

जनता को असत् मार्ग से हटाकर जिनवाणी-सम्मत सत्पथ का प्रदर्शन करना विद्वानो का कर्तव्य है।

नीतिकार ने विद्वान् को लक्ष्य करके कहा है—

> नीरक्षीरविवेके हसालस्य त्वमेव कुरुषे चेत्।
> विश्वस्मिन्नधुनान्य कुलव्रत पालयिष्यति कः॥

यानी—हे हस! यदि तुम दूध और जल को अलग-अलग करने मे आलस्य करोगे तो इस जगत मे सत्य असत्य का भेदभाव कौन दिखलावेगा?

सद् गुरु

पच-परमेष्ठी में प्रथम, द्वितीय पद आराध्य देवाधिदेव का है, जिनको अर्हन्त और सिद्ध माना जाता है। शेष तीन परमेष्ठी (आचार्य, उपाध्याय, साधु) धर्म-गुरु या सद्गुरु माने गये है।

प्रत्येक मुमुक्षु (मुक्ति-इच्छुक) के लिये अर्हन्त, सिद्ध का पद प्राप्त करना लक्ष्य होता है और गुरु उस लक्ष्य तक पहुँचाने वाला या पथ-प्रदर्शन करने वाला हुआ करता है। वह मुक्त-आत्माओ के पद-चिह्नो पर स्वय चलता है, तथा अन्य भव्य प्राणियो को उस माग पर चलने की प्रेरणा प्रदान करता है। अतएव उसे **'तरण तारण'** कहते हैं। ससार मे रहते हुए भी वह ससार से पृथक् रहता है। वह जनता से अपने लिये कुछ नही लेता क्योकि वह स्वयं नग्न दिगम्बर होता है, परन्तु अपनी प्रवृत्ति और प्रेरणा द्वारा जनता को महान आत्मवैभव प्रदान करना है। सत्श्रद्धा, सत्ज्ञान, सत् आचार की वह चलती फिरती प्रतिमा होता है। ससार, शरीर और विषयभोगो से विरक्त होता है। महान इन्द्रिय-विजेता, कषाय-जयी तथा शान्तिमूर्ति होता है।

ऐसा संसार का आदर्श महात्मा **धर्मगुरु** या **सद्गुरु** होता है। जिसके लिये श्री समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्त स्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥

अर्थ—पाचो इन्द्रियो के विषयो की आशा से जो अतीत (रहित) हो, समस्त आरम्भ और अन्तरग बहिरग परिग्रह जिसके न हो और न जो किसी तरह का आरम्भ करता हो, जो आत्म-ध्यान तथा ज्ञान-आराधन में लीन रहता हो, वह सद्गुरु तपस्वी है और प्रशंसनीय है।

हमारी भावना है कि श्री कहान जी स्वामी यथार्थ में ऐसे ही विश्ववन्द्य सद्गुरु बनें। जब आपने श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य मे सत्श्रद्धा जाग्रत करके आत्म-अभ्युदय के लिये अपने जीवन मे महान् क्रान्ति की है तो आपको श्री कुन्दकुन्द आचार्य के चरण-चिह्नो पर चलकर निर्ग्रन्थ-मुनिचर्या भी करनी चाहिये। मनुष्य-जीवन की यह सबसे बडी सफलता है। आप इस मानुषीय परमपद का निर्वाह न कर कर सकते हो, ऐसी बात नही है, हृदय मे दृढ भावना लाने की केवल आवश्यकता है। अपने शरीर से आत्म-साधना का यह कार्य आत्मतत्त्व-वेत्ता को अवश्य लेना चाहिये।

यदि आप ऐसा न कर सकें तो कम से कम प्रतिज्ञापूर्वक सप्तम प्रतिमा का निर्दोष निरतिचार चारित्र यथाविधि स्वीकार करें।

उस दशा में महान गुरु-पद का प्रतीक सद्गुरु' विशेषण अपने नाम के साथ न लगावें, न अन्य व्यक्ति के द्वारा लगने दें तथा सद्गुरु के नाम पर अपना जयघोष भी न कराया करें। ऐसा करना, कराना दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव का कारण गुरु का अवर्णवाद है। आप अपने भक्तो को ऐसा करने से नही रोकते है इसका अर्थ तो यह है कि आपको अपनी ऐसी असत् प्रशसा मे रुचि है।

काल लब्धि

चारित्र पालन के लिये काल-लब्धि का यह बहाना करना, कि 'जब हमारे काल लब्धि आवेगी, तब बिना कुछ प्रयत्न किये ही स्वय हमारे सयम का आचरण हो जायगा,' आत्मार्थी सत्पुरुष के लिये अनुचित वार्ता है। इस तरह तो आप अपनी श्रद्धा में भी परिवर्तन न कर सकते थे।

उत्साह और साहस के साथ विवेकी पुरुष को 'शुभस्य शीघ्रम्' नीति अनुसार शुभ आचरण करने मे देर न करनी चाहिये। काल-लब्धि

ो उचित कारण-कलाप की योजना करने पर स्वयं आ जाती है।
ायर लोग काल-लब्धि के दास बना करते हैं।

साहसी व्यक्ति काल-लब्धि को दासी बनाते है।

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

अर्थ-काललब्धि की आशा के जो दास होते हैं। वे समस्त जगत के दास होते हैं और जो आशा को अपनी दासी बना लेते हैं, सारा जगत उनका दास बन जाता है।

मुखपत्ती उतारते समय आपने काललब्धि की प्रतीक्षा नही की थी। आत्म-हितार्थी व्यक्ति आत्महित करने के लिये काल-लब्धि का मुखापेक्षी नही बनता। आप जब खाने, पीने, पहनने ओढने, आने-जाने बोलने-चालने, सोने, घूमने-फिरने आदि लौकिक कार्यों मे काल-लब्धि की प्रतीक्षा नही करते तो सयम-आचरण मे काल-लब्धि की प्रतीक्षा क्यो कर रहे हैं?

श्री प० टोडरमल जी ने काल-लब्धि को फटकार अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ में बतलाई है, उस पर विचार कीजिये।

शुभ कर्म के उदय से कार्य में सफलता मिलने के लिये अनुकूल सामग्री का मिलना ही काल-लब्धि हैं। सो आपको वैसी योग्यता प्राप्त है, गृहस्थाश्रम के बन्धन से भी आप अतीन हैं। इस काल-लब्धि का लाभ उठाकर आप महाव्रत धारी सद्गुरु बन सकते हैं।

मुनि का द्रव्य लिङ्ग भावलिङ्ग

युद्ध मे विजय प्राप्त करने लिये योद्धा सैनिक के शरीर में बल तथा हृदय में वीरतामय अन्तरग उत्साह होना तो परम आवश्यक है ही, उसके बिना तो वह अपने शत्रु पर विजय पा ही नहीं सकता। परन्तु

इसके साथ ही उसकी बाहरी साधन-सामग्री होना भी अत्यन्त आवश्यक है। वीरता का उद्बोधक गणवेश (वर्दी) तथा बर्छी,तलवार, बन्दूक, गोली, बारूद आदि बाहरी सामान सिपाही के पास न हो तो उसका अन्तरङ्ग वीरभाव व्यर्थ हो जाता है, केवल उस अन्तरङ्ग वीरता के कारण ही उसको युद्ध में विजय नहीं मिल सकती।

इसी तरह यदि अन्तरङ्ग में संसार, शरीर और भोगो से वैराग्य भावना हो किन्तु बाहर से सासारिक परिग्रह का, शारीरिक पोषण का, पहनाव उढाव का तथा इन्द्रिय-विषय-भोगो का परित्याग न किया हो तो वह हृदय की वैराग्य भावना स्थिर नही रहती, लुप्त हो जाती है। जैसे श्मशान भूमि में मनुष्यों का वैराग्य असफल रहता है।

यदि भगवान नेमिनाथ वस्त्र आभूषण आदि उतार कर मुनि-दीक्षा ग्रहण न करते, तो कोरी वैराग्य-भावना से उनको आत्म-सिद्ध कदापि न मिलती।

मुनिका द्रव्य-लिंग (नग्न दिगम्बर वेश) धारण किये बिना कभी भाव-लिंग यानी—प्रत्याख्यानवरण कषाय के क्षयोपशम से होने वाला अन्तरग मुनि चारित्र नही होता। द्रव्यलिंग होने पर भावलिंग कदाचित् न भी हो, परन्तु भावलिंग तो द्रव्यलिंग के विना कदापि (कभी भी) नही होता।

इसी कारण श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने सूत्र पाहुड की २३वीं गाथा में स्पष्ट कहा है—

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासण जइवि होइ तित्थयरो।

अर्थ—वस्त्रादि बहिरंग परिग्रहधारी यदि तीर्थंकर भी हो तो भी वह आत्म-सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त नही कर सकता।

इस कारण यह खयाल करना मूलतः गलत है कि जब हमारे संयम-घाती कषाय का क्षयोपशम होगा तब बाहरी परिग्रह का त्याग अपने आप हो जायगा। क्योकि एक तो बहिरंग परिग्रह के रहते हुए अन्तरंग

परिग्रह का त्याग होता नही, वहिरग परिग्रह के त्याग होने पर ही अन्तरग परिग्रह का त्याग होता है। जैसे चावल के ऊपर से धान का छिलका हट जाने पर ही चावल के भीतर की लालिमा दूर होती है।

दूसरे-कोई भी ऐसा कर्म का क्षयोपशम, क्षय आदि नही है जो कि शरीर पर पहनी हुई टोपी, वनियान, कमीज, कोट, लंगोटी, धोती को उतार कर फेंक दे। यह क्रिया तो विरक्त मनुष्य को स्वयं करनी पडती है। तभी अन्तरग मे प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होना सम्भव है।

गुरु-विनय वार्ता

श्री कहान जी स्वामी को निर्ग्रन्थ-मुनि-मुद्रा का विनय आदर सत्कार करना चाहिये। सम्यक् दृष्टि जीव निर्ग्रन्थ गुरु का विनयी भक्त होता है। उसके परोक्षज्ञान-गम्य मुनि का द्रव्यलिंग ही होता है, भावलिंग छद्मस्थ के ज्ञान-गम्य नही है। अतः महाव्रती दिगम्बर मुद्रा देख कर श्री कहान जी स्वामी को मनसा वाचा कर्मणा निर्ग्रन्थ साधु की भक्ति उपासना करना उचित है।

श्री सेठ बच्छराज जी गगवाल के कथन-अनुसार पहले सोनगढ वालो को अष्ट द्रव्य से पूजन करने का विधि विधान नही आता था। श्री सेठ बच्छराज जी आदि ने विधि अनुसार सोनगढ वालो को पूजा प्रक्षाल करना वतलाया। तव वे ठीक तरह से पूजा करने लगे। इसी तरह सोनगढ वालो को दिगम्बर साधु की गुरु-भक्ति करने की विधि भी मालूम नही है। मुनियों को आहार कराने की विधि भी सोनगढ के भाइयों को सीखना उचित आवश्यक है। जिससे सोनगढ में मुनियों का विहार होना संभव हो सके और सोनगढ वालों को गुरु-भक्ति करने का सौभाग्य प्राप्त हो। गुरु-भक्त होना सम्यग्दृष्टि का चिन्ह है।

सुधारणीय त्रुटि
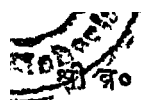
श्री ब्र० चुन्नीलाल जी देसाई राजकोट द्वारा सोनगढ़ का कलंक नामक पुस्तक में पृष्ठ ९९ पर लिखे अनुसार तथा अन्य विश्वस्त व्यक्तियो के कहे अनुसार श्री कहान जी स्वामी की प्रेरणा से सोनगढ राजकोट आदि में बने हुए मन्दिरों में शूद्रजातीय व्यक्ति पूजन प्रक्षाल करते हैं। यह बात बहुत अनुचित है, इसका सुधार होना चाहिये।